प्रकाशक
छगनमल बाकलीवाल
मालिक
जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

श्रीपरमात्मने नमः ।

मोक्षशास्त्र

बालबोधिनी भाषाटीकासहित ।

दोहा ।

पंचपरमपद प्रणमकरि, जिनवाणी उर धारि ॥
मोक्षशास्त्र भाषार्थसह, लिखहुँ बालहितकारि ॥ १ ॥

आत्माका हित मोक्ष है उसके मिलनेका उपाय क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य सूत्र कहते हैं:—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—(**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका मिलना (**मोक्षमार्गः**) मोक्षका मार्ग अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है । संशय[1] विपर्यय[2] और अनध्यवसाय[3]-रहित जीवादि पदार्थोंके जाननेको **सम्यग्ज्ञान** कहते हैं और मिथ्यात्व

---

१ अनिश्चितानेककोट्यवलंबितं ज्ञानं संशयः । समान धर्मके दर्शनसे, तथा विशेष धर्मके अदर्शनसे जो अनेक पदार्थोंका अवलंबन करनेवाला ज्ञान होता है उसको **संशय** कहते है । जैसे यह पदार्थ स्थाणु है अथवा पुरुष है? सीप है या चांदी है? ऐसा अनिश्चितरूप ज्ञान । २ अन्य पदार्थमें अन्यपदार्थके निश्चय होनेको **विपर्यय** कहते हे । जैसे रस्सीमे सर्पका निश्चित ज्ञान । ३ जाननेकी इच्छाके अभावमें

कषायादि संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरक्त होनेको **सम्यक्चारित्र** कहते हैं ॥ १ ॥

आगे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं;—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—(**तत्त्वार्थश्रद्धानं**) तत्त्व—अर्थात् वस्तुके स्वरूपसहित **अर्थ** अर्थात् पदार्थोंका (सात तत्त्वोंका) श्रद्धान करना (**सम्यग्दर्शनं**) सम्यग्दर्शन है ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—(**तत्**) वह सम्यग्दर्शन (**निसर्गात्**) स्वभावसे (**वा**) अथवा (**अधिगमात्**) परके उपदेशसे उत्पन्न होता है, अर्थात् जो सम्यग्दर्शन परके उपदेश विना अपने आप ही उत्पन्न हो, उसको तो **निसर्गजसम्यग्दर्शन** कहते हैं और अन्यके उपदेशसे उत्पन्न हो उसको **अधिगमजसम्यग्दर्शन** कहते हैं ॥ ३ ॥

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः**) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (**तत्त्वं**) तत्त्व हैं। चेतनालक्षण **जीव** है। जिनमें चेतनागुण नहीं है ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच **अजीवतत्त्व** हैं। शुभ अशुभकर्मोंके आनेके द्वारको **आस्रव** कहते हैं। आत्माके प्रदेशोंमें कर्मोंका

अनिश्चितरूप तथा विकल्परहित जो सूक्ष्म ज्ञान हो, उसको **अनध्यवसाय** कहते हैं। जैसे मार्गमें चलते समय पाँवसे छुए हुए अनेक धूलि, कंटक, पाषाण, वालू, तृण आदिकोंका स्पर्श होनेपर ' कुछ है ' इसप्रकार विकल्परहित तथा अनिश्चितरूप (जिसमें अनेक कोटियोंका अवलंबन नहीं हो, ऐसा) ज्ञान होता है वह **अनध्यवसाय** है।

प्रवेश हो जाना (संबंध होना) बंध है। आस्रवोंका रुकना संवर है। आत्माके (जीवके) प्रदेशोंमें कर्मोंका एकदेश क्षय होना (पृथक् होना) निर्जरा है और समस्त कर्मोंका सर्वथा पृथक् हो जाना मोक्ष है। इनका ही विशेष वर्णन इस ग्रंथके दशों अध्यायोंमें किया गया है ॥ ४ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—(**नामस्थापनाद्रव्यभावतः**) नाम, स्थापना, द्रव्य और भावसे (**तत् न्यासः**) उन सात तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका न्यास अर्थात् लोकव्यवहार होता है। गुण, जाति, द्रव्य और क्रियाकी अपेक्षा विना ही अपनी इच्छानुसार लोकव्यवहारके लिए किसी पदार्थकी संज्ञा करनेको **नामनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—किसी पुरुषका नाम इंद्रराज है, परंतु उसमें इंद्रसरीखे गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया कुछ भी नहीं है; उसके माता पिताने केवल व्यवहार्थ नाम रख लिया है। लोकमें चतुर्भुज, धनपाल, देवदत्त, इंद्रदत्त, हाथीसिंह, जोरावरसिंह इत्यादि नाम रख लेते हैं। गुण, जाति, द्रव्य, क्रियाकी अपेक्षासे ये नाम नहीं रक्खे जाते, इसीको नामनिक्षेप कहते हैं ॥ १ ॥ धातु, काष्ठ, पाषाण, मिट्टीके चित्रादिक तथा सतरंजकी सार आदि पदार्थोंमें हाथी, घोड़ा, बादशाह इत्यादि तदाकार वा अतदाकाररूप कल्पना कर लेनेको **स्थापनानिक्षेप** कहते हैं। जैसे—पार्श्वनाथभगवान्की वीतरागरूप जैसीकी तैसी शांतमुद्रायुक्त धातुपाषाणमय प्रतिमाकी (मूर्तिकी) प्रतिष्ठा करना। यह **तदाकारस्थापना**[1] है। और सतरंजकी गोटोंमें

---

१ जो पदार्थ जिस आकारका हो उसे वैसा ही पत्थर काष्ठ मृत्तिकादिका बनाकर उसमें उसीकी स्थापना करनेको तदाकारस्थापना कहते है।

हाथी घोड़ा बादशाह मानना, यह **अतदाकारस्थापना**[1] है। नामनिक्षेपमें पूज्य अपूज्यबुद्धि नहीं होती है, परंतु स्थापनानिक्षेपमें होती है ॥ २ ॥ जो भूत भविष्यत् पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना सो **द्रव्यनिक्षेप** है। जैसे—भविष्यत्में होनेवाले राजाके पुत्रको (युवराजको) वर्तमानमें राजा कहना अथवा जो भूतकालमें फौजदार था उसका ओहदा चला जानेपर भी उसे फौजदार कहना, यह **द्रव्यनिक्षेप** है ॥ ३ ॥ जिस पदार्थका वर्तमानमें जो पर्याय हो, उसको उसीरूप कहना सो **भावनिक्षेप** है। जैसे—काष्ठको काष्ठ कहना और कोयला होनेपर कोयला और राख होनेपर राख कहना ॥ ४ ॥ ये चारों भेद ज्ञेयके (पदार्थके) होते हैं ॥ ५ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—उक्त जीवादि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकोंका (**अधिगमः**) ज्ञान अर्थात् स्वरूपका जानना (**प्रमाणनयैः**) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे (सम्यग्ज्ञानसे) और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंसे होता है। जो पदार्थके सर्वदेशको कहे—जनावे, उसको **प्रमाण** कहते हैं और पदार्थके एकदेशको कहे—जनावे, उसको **नय** कहते हैं। आत्मा जिस ज्ञानकेद्वारा विना अन्यपदार्थकी सहायतासे ही पदार्थको अत्यंत निर्मल स्पष्टपने जाने, उसको **प्रत्यक्षप्रमाण** कहते हैं। और चक्षुआदि इन्द्रियोंकी सहायतासे तथा शास्त्रादिकसे पदार्थको अस्पष्ट जाने, उसको **परोक्षप्रमाण** कहते हैं। इसीके एक भागको अनुमानप्रमाण भी कहते हैं। जो पर्यायको उदासीनरूपसे देखता हुआ द्रव्यको ही मुख्यतासे कहे सो **द्रव्यार्थिकनय** है और जो द्रव्यको

---

[1] असली पदार्थका आकार जिसमें न हो, ऐसे किसी भी पदार्थमें किसीकी स्थापना (कल्पना) करना सो अतदाकारस्थापना है।

मुख्य नहीं करके एक पर्यायको ही कहे सो **पर्यायार्थिकनय** है ॥६॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।७।

अर्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तथा सम्यग्दर्शनादिका अधिगम (ज्ञान) होता है। वस्तुरूपके नाम मात्र कहनेको **निर्देश** कहते हैं। वस्तुके अधिकारीको **स्वामित्व** कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको **साधन** कहते हैं। वस्तुके आधारको **अधिकरण** कहते हैं। वस्तुके कालकी मर्यादाको **स्थिति** और वस्तुके प्रकारको (भेद कहनेको) **विधान** कहते हैं ।७।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ—(च) और पदार्थका **सत्**—अस्तित्व, **संख्या**—वस्तुके परिणामोंकी गणना, **क्षेत्र**—पदार्थका वर्तमान निवास, **स्पर्शन**—जिस आधारमें सर्वदा निवास रहे ऐसा अधिकरण, **काल**—वस्तुके ठहरनेकी मर्यादा, **अंतर**—विरहकाल, **भाव**—पदार्थोंके औपशमिकादिरूप भाव और **अल्पबहुत्व**—एक वस्तूका दूसरेकी अपेक्षा बहुतपना, इन आठोंको स्वरूप जानने वा कहनेसे भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक पदार्थोंका अधिगम (ज्ञान) होता है[1] ॥ ८ ॥

अब सम्यग्दर्शनके भेदोंको तथा स्वरूपको कहते हैं—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि**) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच प्रकारके (**ज्ञानं**) ज्ञान हैं। जो पाँच इन्द्रियोंसे और मनसे पदार्थको जाने, उसे **मतिज्ञान** कहते

---

१ इनका विस्तृत कथन सर्वार्थसिद्धि आदि शास्त्रोंमे चौदह गुणस्थान चौदह मार्गणाके वर्णनमें है।

है। जो मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थकी सहायतासे उसी पदार्थके भेदोंको अथवा अन्य पदार्थको जाने, उसे **श्रुतज्ञान**[1] कहते हैं। जो क्षेत्र काल भाव तथा द्रव्यकी मर्यादा लिये रूपी पदार्थको प्रत्यक्ष रूपसे जाने, उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं। जो अन्यके मनमें तिष्ठे हुए रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाने. वह **मनःपर्ययज्ञान** है और जो समस्त द्रव्य-क्षेत्रकालभावको प्रत्यक्षरूप जाने अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमानमें होनेवाली पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको एक ही कालमें जाने सो **केवल-ज्ञान** है ॥ ९ ॥

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ–(**तत्**) ऊपर कहा हुआ पाँच प्रकारका ज्ञान है सो ही (**प्रमाणे**) प्रमाणरूप है तथा उसके दो मूल भेद हैं। **भावार्थ**—उक्त पाँच प्रकारके ज्ञान ही प्रत्यक्ष–परोक्षरूप दो प्रमाण हैं ॥ १० ॥

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ—(**आद्ये**) आदिके दो मति और श्रुतज्ञान (**परोक्षं**) परोक्षप्रमाण है ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ—(**अन्यत्**) बाकीके अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (**प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्षप्रमाण हैं ॥ १२ ॥

मतिःस्मृतिःसंज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम् १३

अर्थ—(**मतिः**) मन और इन्द्रियोंसे वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादिरूप जानना, (**स्मृतिः**) अनुभूत पदार्थोंका कालान्तरमें स्मरण होना, (**संज्ञा**) वर्तमानमें किसी पदार्थको देखकर यह वही

---

१ श्रुतज्ञानका लक्षण और प्रकारसे भी कहा गया है।

है जो पहले देखा था इस प्रकार जोड़रूप ज्ञान होना, (इसको प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं) (**चिंता**) अविनाभावसम्बन्धका ज्ञान, (इसको ऊहा तथा तर्क भी कहते हैं) (**अभिनिबोधः**) सम्मुख चिह्नादिक देखकर उस चिह्नवालेका निश्चय कर लेना (इसको स्वार्थानुमान भी कहते हैं) (**इति**) इनको आदि लेकर प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि इत्यादि सब (**अनर्थांतरम्**) अर्थ भेदरहित हैं अर्थात् मतिज्ञानके ही नामांतर हैं और ये सब मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही होते हैं॥ १३ ॥

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(**तत्**) वह मतिज्ञान (**इंद्रियानिंद्रियनिमित्तं**) बाह्यमें पाँच इंद्रिय और मनके निमित्तसे होता है, अर्थात् इसके छह बाह्यकारण हैं, किंतु अंतरंगमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम इसका कारण है[1] ॥ १४ ॥

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। किसी वस्तुकी सत्ता (होने) मात्रको देखे उसको **दर्शन** वा **दर्शनोपयोग** कहते हैं और दर्शनके पश्चात् श्वेत वा कृष्णादि-रूप विशेष जाननेको **अवग्रहमतिज्ञान** कहते हैं। अवग्रहके पश्चात् यह श्वेत वा कृष्ण क्या पदार्थ है ? इसके विशेष जाननेकी (यह श्वेत पदार्थ वकपंक्ति होना चाहिये अथवा श्वेतध्वजा देखी हो तो ध्वजा होना संभव है, इस प्रकार) इच्छा होनेको **ईहामतिज्ञान** कहते

---

१ बाह्य कारणोंकी अपेक्षासे इसके छह भेद हैं स्पार्शन, रासन, घ्राणज, चाक्षुष, श्रावण और मानस ।

है। ईहाके पश्चात् ही जो ईहामें ज्ञान हुआ था उसका विशेष चिह्नोंसे निश्चय होना (वकपंक्ति हो तो वकपंक्ति और ध्वजा हो तो ध्वजा) सो **अवायमतिज्ञान** है। और जिस ज्ञानके कारणसे जाने हुए पदार्थको कालांतरमें नहीं भूले सो **धारणामतिज्ञान** है ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां १६

अर्थ—(**बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां**) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत अनुक्त और ध्रुव इन छह प्रकारके पदार्थोंका (**सेतराणाम्**) इनसे उल्टे अल्प, एकविध, अक्षिप्र तथा निःसृत, उक्त और अध्रुव इन छहको मिलाकर द्वादस प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ग्रहण (ज्ञान) होता है। जैसे—एक साथ बहुत अवग्रहादिरूप ग्रहण होना सो बहुग्रहण है ॥ १ ॥ बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादिरूप ज्ञान सो बहुविधग्रहण है ॥ २ ॥ शीघ्रतासे पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान हो जाना सो क्षिप्रग्रहण है ॥ ३ ॥ जलमें डूबे हुए हस्ती मनुष्यादिकका एक देश जाननेसे उस संपूर्ण पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान होना सो अनिःसृतग्रहण है ॥ ४ ॥ वचनसे सुने विना ही अभिप्रायसे जान लेना सो अनुक्तग्रहण है ॥ ५ ॥ और बहुतकालतक जितनाका तितना निश्चलरूपसे पदार्थोंका ज्ञान होते रहना सो ध्रुवग्रहण है ॥ ६ ॥ इसीप्रकार इनसे उलटे पदार्थोंके छ भेद हैं। जैसे अल्पका ज्ञान होना व एक पदार्थका जानना सो अल्पग्रहण है ॥ ७ ॥ एक प्रकारका जानना सो एकविधग्रहण है ॥ ८ ॥ पदार्थको धीरे धीरे बहुत कालमें जानना सो चिरग्रहण है ॥ ९ ॥ बाहर निकले हुए प्रगटरूप पदार्थका जानना

१ ये चारों भेद विशेषकर क्रियाके होते हैं।

सो निःसृतग्रहण है ॥ १० ॥ यह घट है इसप्रकार शब्द सुनकर घटपटादि पदार्थोंका जानना सो उक्तग्रहण है ॥ ११ ॥ और क्षण-क्षणमें कमती ज्यादा होता रहे अथवा क्षणमात्रमें नष्ट हो जाय इस प्रकारके पदार्थका जानना सो अध्रुवग्रहण है ॥ १२ ॥ इस तरह वारह प्रकारकी अवस्थावाले पदार्थोंका अवग्रह ईहा अवाय धारणारूप मतिज्ञान होता है ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ये वहु आदिक वारह भेद कहे सो द्रव्यके हैं अर्थात् पदार्थके वहु आदि विशेषणसहित वारह प्रकार अवग्रहादि ज्ञान होते हैं। किसीका मत है कि जो चाक्षुषज्ञान होता है सो रूपका ही होता है, द्रव्यका नहीं; द्रव्यका तो उसके संवंधसे पीछे ज्ञान होता है। इसके खंडनार्थ आचार्य महाराज कहते हैं कि—संवंध पदार्थके (द्रव्यके) साथ ही होता है—केवल गुणके साथ कभी नहीं होता है। इसकारण ही यह सूत्र रचा गया है ॥ १७ ॥

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—(व्यंजनस्य) अप्रकटरूप शब्दादिक पदार्थोंका (अवग्रहः) केवल अवग्रहरूप ज्ञान होता है—ईहादिक अन्य तीन ज्ञान नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—किंतु (चक्षुरनिंद्रियाभ्याम्) नेत्र और मनसे व्यंजन (अप्रकटपदार्थ) का अवग्रहज्ञान (न) नहीं होता है ॥ १९ ॥

---

१ विषयके भेदसे वहु आदिक १२ भेद होते हैं। २ जब नेत्र और मनसे व्यंजनका अवग्रह नहीं होता है तब इनसे ईहादिक भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि विना अवग्रह हुए ईहादिक नहीं हो सकते हैं।

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

अर्थ—(**श्रुतं**) श्रुतज्ञान (**मतिपूर्वं**) मतिज्ञानके निमित्तसे होता है सो (**द्व्यनेकद्वादशभेदं**) दो प्रकारका है, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट । इनमेंसे आदिका (**अंगबाह्य**) अनेक (चौदह) प्रकार तथा दूसरा (**अंगप्रविष्ट**) बारह प्रकारका है। अभिप्राय यह है किश्रुतज्ञानके मूल दो भेद हैं, एक द्रव्यश्रुत दूसरा भावश्रुत। यहां कारणकी मुख्यताको लेकर आचार्यने सूत्रमें द्रव्यश्रुतका ही कथन किया है और ऊपर कहे हुए भेद भी द्रव्यश्रुतके हैं। अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानके १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग, ६ ज्ञातृधर्मकथांग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८ अंतकृद्दशांग, ९ अनुत्तरोपपादिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग, और १२ दृष्टिप्रवादअंग इस प्रकार बारह भेद हैं। अंगबाह्यके १ सामायिक, २ चतुर्विंशस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुंडरीक, १३ महापुंडरीक और १४ निषिद्धिका ये चौदह भेद हैं। अंगोंका थोड़ा थोड़ा सारांश लेकर संक्षेपसे अल्पबुद्धि पुरुषोंकेवास्ते रचे हुए दशवैकालिकादि श्रुत हैं ॥ २० ॥

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मर्यादायुक्त ज्ञान हो, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान दो प्रकारका है एक भवप्रत्यय अवधिज्ञान, दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक। इनमेंसे (**भवप्रत्ययः**) भवप्रत्ययनामका (**अवधिः**)

---

१ जो देवगति और नरकगतिके (भवके) कारण उत्पन्न हो उसे भवप्रत्ययावधि कहते हैं। २ अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञान होता

अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) देव और नारकी जीवोंके ही होता है ॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(क्षयोपशमनिमित्तः) क्षयोपशमनिमित्तवाला अवधिज्ञान (षड्विकल्पः) अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छह भेदरूप है। सो (शेषाणां) मन-सहित सैनी जीवोंके अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सहित मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। जो अवधिज्ञान अन्यक्षेत्र वा भवमें जीवके साथ जाय उसे **अनुगामी**, साथ नहीं जाय उसे **अननुगामी**, जो बढ़ता रहे उसे **वर्द्धमान**, घटता रहे उसे **हीयमान**, एकसा रहे उसे **अवस्थित** और घटता बढ़ता रहे उसे **अनवस्थित** अवधिज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—(मनःपर्ययः) मनःपर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है। मनवचनकायकी सरलतारूप परके मनमें तिष्ठते हुए पदार्थको जाने उसे **ऋजुमति** कहते हैं। और सरल तथा वक्ररूप परके मनमें रहनेवाले पदार्थको जाने सो **विपुलमति** मनःपर्यय है ॥ २३ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थ—(विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां) परिणामोंकी विशुद्धतासे और अप्रतिपातसे अर्थात् केवलज्ञान होने तक रहे उससे पहले नहीं

है उसको क्षयोपशमनिमित्तिक अवधिज्ञान कहते है। तथा सामान्यपने अवधिज्ञान १ देशावधि, २ परमावधि, ३ सर्वावधिके भेदसे तीन प्रकारका है, उसमें भवप्रत्यय अवधि देशावधि ही होता है और दूसरा तीनों ही तरहका होता है। १ चारित्ररूपी पर्वतसे नहीं गिरना उसको अप्रतिपात कहते हैं।

छूटे इससे (तद्विशेषः) इन दोनोंमें न्यूनाधिकता है अर्थात् ऋजुमतिमनःपर्ययसे विपुलमतिमनःपर्यय उक्त दो हेतुओंके कारण बड़ा तथा पूज्य है ॥ २४ ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः २५

अर्थ—(अवधिमनःपर्यययोः) अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें भी (विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः) विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय इन चारोंकी विशेषतासे (विलक्षणतासे) भेद (फर्क) होता है । अर्थात् इन दोनोंके विशुद्धता, क्षेत्रकी मर्यादा, स्वामी और विषय न्यूनाधिक हैं । अभिप्राय यह कि मनःपर्ययज्ञान, विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी और सूक्ष्म विषयवाला है, और अवधिज्ञान, अविशुद्ध, बड़ाक्षेत्र, बहुतस्वामी, और स्थूल विषयवाला है ॥ २५ ॥

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थ—(मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका (निबंधः) विषयोंके जाननेका संबंध वा नियम (द्रव्येषु) द्रव्योंकी (असर्वपर्यायेषु) कुछ पर्यायोंमें है । अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते, थोड़ी थोड़ी पर्यायोंको ही जान सकते हैं ॥ २६ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थ—(अवधेः) अवधिज्ञानके विषयका नियम (रूपिषु) रूपी मूर्तिकपदार्थोंमें है अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंको ही जानता है ॥ २७ ॥

तदनंतभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है (तदनंतभागे) उसका अनंतवां भाग भी सूक्ष्म द्रव्य (मनःपर्ययस्य) मनःपर्यय-ज्ञानका विषय हो सकता है ॥ २८ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ—(केवलस्य) केवल ज्ञानके विषयका नियम (सर्वद्रव्य-पर्यायेषु) समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है । अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्याय हैं सो छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान युगपत् (एक कालमें) जानता है ॥ २९ ॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ३०

अर्थ—(एकस्मिन्) एक जीवमें (एकादीनि) एकको आदि लेकर (भाज्यानि) विभाग किये हुए (युगपत्) एकसाथ (आ चतुर्भ्यः) चार ज्ञान तक हो सकते हैं । यदि किसी जीवमें एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो ज्ञान हो तो मति और श्रुत होते हैं । तीन ज्ञान हो तो मति, श्रुत और अवधि ये तीन अथवा मति, श्रुत, और मनःपर्यय ये तीन होते हैं। और चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान एक साथ हो सकते हैं । पाँच ज्ञान एक साथ नहीं होते क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है इस लिये क्षायोपशमिक ज्ञान उसके साथ नहीं होते ॥ ३० ॥

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

---

१ अवधिज्ञानके देशावधि आदि तीन भेद हैं । उनमें सबसे सूक्ष्म विषय (एक परमाणु) सर्वावधिका है । इससे उसीके विषयका अनंतानंत अविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भाग किया है । २ 'भंक्तुं योग्यानि भाज्यानि' ये ज्ञान विभाग करने योग्य है ।

अर्थ-(मतिश्रुतावधयः) मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (विपर्ययः च) विपर्यय भी होते हैं। अर्थात् इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे जो कि सम्यग्ज्ञानके भेद हैं मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान भी होते हैं, जिनको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान (विभंग-अवधि) कहते हैं। इसप्रकार तीन तो कुज्ञान और पाँच सम्यग्ज्ञान, सब मिलाकर आठ प्रकारके ज्ञान होते हैं ॥३१॥

ये ज्ञान कुज्ञान क्यों हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर हेतु और दृष्टांत देते हैं:—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।३२।

अर्थ-(**सदसतोः**) सत् और असत्रूप पदार्थोंके (**अविशेषात्**) विशेषका अर्थात् भेदका ज्ञान नहीं होनेसे (**यदृच्छोपलब्धेः**) स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण (**उन्मत्तवत्**) उन्मत्तके ज्ञानके समान ये मिथ्याज्ञान भी होते हैं। **भावार्थ**— जिसप्रकार मदिरासे उन्मत्त पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है, यह उसका मिथ्याज्ञान है। परंतु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है, तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। क्योंकि उस माता और भार्यामें क्या विशेषता है इसका सत्यासत्यनिर्णयरूप यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत् और असत् पदार्थोंका भेद नहीं समझते हुए कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञानवालेका यथार्थ जानना भी मिथ्याज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ।

अर्थ—(**नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः**) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात (**नयाः**) नय हैं। वस्तुमें अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं, उनमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यता लेकर अविरोधरूप साध्य पदार्थको जाने या कहे सो नय है। नयके ऊपर लिखे हुए सात भेद हैं॥ ३३॥

१ जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमान-कालकी समस्त पर्यायोंसे अन्वयरूप अर्थात् जोड़रूप हैं—अपनी किसी भी पर्यायसे कोई द्रव्य भिन्न नहीं है। सो अतीत पर्यायोंका तथा भविष्यत् पर्यायोंका वर्त्तमानकालमें संकल्प करे, ऐसे ज्ञानको तथा वचनको **नैगमनय** कहते हैं। जैसे—कोई पुरुष रोटी बनानेकी सामग्री इकट्ठी करता है और उससे किसीने पूछा कि 'क्या करते हो?' इसके उत्तरमें उसने कहा कि, 'रोटी बनाता हूँ' किंतु यहां अभीतक रोटी बनानेरूप पर्याय प्रगट नहीं हुई, वह केवल मात्र लकड़ियाँ जल वगैरह रख रहा है तथापि नैगमनयसे ऐसा वचन कह सकता है कि 'मैं रोटी बना रहा हूँ'।

२ जो एक वस्तुकी समस्त जातिको व उसकी समस्त पर्यायोंको संग्रहरूप करके एकस्वरूप कहे, उसको **संग्रहनय** कहते हैं। जैसे 'घट' कहनेसे सब घटोंको समझना अथवा 'द्रव्य' कहनेसे जीव अजीवादि तथा उनके भेद प्रभेदादि सबको समझना यह **संग्रहनय** है।

३ जो संग्रहनयसे ग्रहण किये हुए पदार्थोंका विधिपूर्वक (व्यव-हारके अनुकूल) व्यवहरण अर्थात् भेद प्रभेद करे सो **व्यवहारनय** है। जैसे—संग्रहनयसे 'द्रव्य' कहनेसे समस्त भेद प्रभेदरूप द्रव्योंका

सामान्यतासे ग्रहण होता है। परन्तु द्रव्य दो प्रकारके हैं, जीव और अजीव। जीव–देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच चार प्रकारके हैं। अजीव–पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच प्रकारके हैं, इस प्रकार व्यवहारके साधक जितने भेद प्रभेद हो सकें उनको जो बतलावे या जाने सो **व्यवहारनय** है।

४ अतीत अनागत दोनों पर्यायोंको छोड़के वर्तमानपर्यायमात्रको ग्रहण करे सो **ऋजुसूत्रनय** है। द्रव्यकी पर्याय समय[1] समयमें परिणमती (पलटती) रहती है। एकसमयवर्ती पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय ही ऋजुसूत्रनयका विषय है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान एक समयमात्रकी पर्यायको कहता व ग्रहण करता है। अतीत अनागत समयकी पर्यायको ग्रहण नहीं करता है।

५, जो व्याकरणसंबंधी लिंग, संख्या (वचन), साधन (कारक) काल आदिकके व्यभिचारको (दोषोंको) दूर करके जाने वा कहे, उसे **शब्दनय** कहते हैं।

६ अनेक अर्थोंको छोड़ करके जो एक ही अर्थमें रूढ (प्रसिद्ध) हो, उसको जाने वा कहे सो **समभिरूढनय** है। जैसे–गो शब्दके गमन आदि अनेक अर्थ होते हैं तथापि मुख्यतासे गो नाम गाय वा बैलका ही ग्रहण किया जाता है। उसको चलते बैठते सोते सब अवस्थाओंमें सब लोग गो ही कहते हैं। यही समभिरूढनय है।

७ जिस कालमें जो क्रिया करता हो, उसको उस कालमें उस ही नामसे जाने वा कहे, उसे **एवंभूतनय** कहते हैं। जैसे—देवोंके पति इंद्रको जब वह परम ऐश्वर्यसहित हो, उसी अवस्थामें इंद्र

---

१ कालके सबसे छोटे भागको एक समय कहते हैं।

कहना, पूजन अभिषेकादि करते हुए इंद्र नहीं कहना तथा जिस कालमें वह शक्तिरूप क्रियाको करे उसी समय 'शक्र' कहना, अन्य समयमें शक्र नहीं कहना।

इन सातों नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय तो द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक हैं।

यहां कोई संदेह करे कि द्रव्यसंग्रह, पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंमें जो नयके निश्चय और व्यवहार दो भेद कहे वे कौनसे हैं, सो उनके लिए कहा जाता है कि:—

पदार्थके निजस्वरूपको मुख्य करे सो तो **निश्चयनय** है और जो किसी प्रयोजनके वश अन्यपदार्थके भावको अन्यपदार्थमें आरोपण करे अथवा परनिमित्तसे उत्पन्न हुए नैमित्तिक भावको ही वस्तुका निजभाव कहे, उसे **व्यवहारनय** कहते हैं। इसको **उपचारनय** तथा **उपनय** भी कहते हैं। उपर्युक्त नैगमादि सात नय द्रव्यके निजस्वरूपको ही मुख्य कहते हैं, इस कारण नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक इस प्रकार सातों नय निश्चय-नयके भेद हैं। और व्यवहार (उपचार) नयके सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार ये तीन भेद हैं। जैसे—जीवको रागादिक भावकर्मोंका कर्त्ता कहना सो **असद्भूतव्यवहारनय** है। और घटपटादिका कर्त्ता कहना सो **उपचरितव्यवहारनय** है। निश्चयनयके भी दो भेद हैं, एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्ध-निश्चयनय। जैसे—जीवको क्षयोपशमरूप मतिज्ञानादिक चार ज्ञानोंका कर्त्ता कहना सो तो **अशुद्धनिश्चयनय** है और शुद्ध दर्शन ज्ञानका

अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञानका कर्त्ता कहना सो **शुद्धनिश्चयनय** है। इनका विशेष विषय और स्वरूप आलापपद्धति तथा नयचक्रादि ग्रंथोंसे जानना चाहिये॥ ३२॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

द्वितीय अध्याय।

पहले सम्यग्दर्शनके लक्षणमें जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान कहा था। उनमेंसे प्रथम जीवका निजभाव (स्वरूप) क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य सूत्र कहते हैं:—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च॥ १॥

अर्थ—(**जीवस्य**) जीवके (**औपशमिकक्षायिकौ**) औपशमिक और क्षायिक (**भावौ**) भाव (**च मिश्रः**) और मिश्र (**औदयिकपारिणामिकौ च**) औदयिक तथा पारिणामिक भाव ये पाच प्रकारके भाव हैं और ये पांचों ही भाव जीवके (**स्वतत्त्वं**) निजतत्त्व वा निजभाव हैं अर्थात् ये जीवमें ही होते हैं। जैसे—मलिन जलमें निर्मली वा फिटकड़ी डालनेसे कीचड़ नीचे बैठ जाता है और ऊपरका जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मोंके उपशम होनेसे (उदय न होनेसे) जीवके परिणाम जो विशुद्ध हो जाते हैं, उनको **औपशमिकभाव** कहते हैं। कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे जो आत्माके अत्यंत शुद्धभाव होते हैं, उनको **क्षायिकभाव** कहते हैं। सर्वघाती कर्मोंके उदयाभावीक्षय होने (फल नहीं देकर झड़ जाने)

या उपशम होने तथा देशघाती कर्मोंके उदय होनेसे जो भाव होते हैं उनको मिश्रभाव अथवा क्षायोपशमिकभाव कहते हैं। द्रव्य-क्षेत्रकालभावरूप निमित्तसे कर्म जो अपना रस (फल) देता है उसको उदय कहते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जो आत्माके भाव होते हैं उनको औदयिकभाव कहते हैं। और जिनभावोंमें कर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है उन भावोंको पारिणामिकभाव कहते हैं ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ—इन पांचों भावोंके (यथाक्रमं) क्रमसे द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः) दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। अर्थात् औपशमिकभाव दो प्रकारके हैं, क्षायिकभाव नौ प्रकारके हैं, मिश्रभाव अठारह प्रकारके हैं, औदयिकभाव इक्कीस प्रकारके हैं और पारिणामिकभाव तीन प्रकारके हैं ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिकसम्यक्त्व[1] और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिकभावके भेद हैं ॥ ३ ॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

अर्थ—(ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि) केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिकवीर्य (च) और चकारसे क्षायिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकचारित्र ये नौ क्षायिकभाव हैं ॥ ४ ॥

---

१ जो मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है। यह सादिमिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा कथन है। अनादिमिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वके विना पांच प्रकृतियोंके उपशमसे होता है।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—(**ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः**) मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान (कुज्ञान), चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान क्षायोपशमिकलाभ क्षायोपशमिकभोग क्षायोपशमिक-उपभोग और क्षायोपशमिकवीर्य ये पांच लब्धि तथा (**सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च**) वेदकसम्यक्त्व, सरागचारित्र और संयमा-संयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं। ये सब ही भाव, आत्मामें कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं ॥ ५ ॥

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-सिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

अर्थ—मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये ४ गति, क्रोध मान माया लोभ ये ४ कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये ३ लिंग, मिथ्यादर्शन १, अज्ञान १, असंयम १, असिद्धत्व[१] १ और कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ये ६ लेश्या, इसप्रकार इक्कीस औदयिकभाव हैं ॥ ६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—(**च**) और (**जीवभव्याभव्यत्वानि**) जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन (अन्य द्रव्यसे असाधारण) जीवके पारिणामिकभाव हैं ॥ ७ ॥

इसप्रकार जीवके सब मिलाकर ५३ भाव हैं। अब जीवका लक्षण कहते हैं:—

---

१ आठों ही कर्मोंके उदयसे होता है।

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जीवका (लक्षणम्) लक्षण (उपयोगः) उपयोग है। उपयोग आत्मके चैतन्य स्वभावको कहते हैं। इसीको आत्माका (जीवका) परिणाम परिणमन परिणति वा उपयोग कहते हैं ॥ ८ ॥

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—(सः) वह उपयोग (द्विविधः) मूलभेदसे दोप्रकारका है, पहला ज्ञान दूसरा दर्शन और फिर वह दोप्रकारका उपयोग क्रमसे (अष्टचतुर्भेदः) आठ और चारप्रकारका है अर्थात् ज्ञानोपयोगके १ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय, ५ केवल, ६ कुमति, ७ कुश्रुत और ८ कुअवधि ऐसे आठ भेद हैं और दर्शनोपयोगके १ चक्षुर्दर्शन, २ अचक्षुर्दर्शन, ३ अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन ऐसे चार भेद हैं ॥ ९ ॥

अव जिनके उपर्युक्त ५३ भाव और उपयोग लक्षण वतलाये, उन जीवोंके भेद कहते हैं:—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—वे जीव (संसारिणः) संसारी (च) और (मुक्ताः) मुक्त अर्थात् सिद्ध ऐसे दो प्रकारके हैं। जो कर्मसहित हैं, कर्मोंके वशीभूत हो नानाप्रकारके जन्म मरण करते हुए संसारमें संसरण वा भ्रमण करते रहते हैं उनको **संसारी जीव** कहते हैं। और जो

---

१ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्—परस्पर मिली हुई वस्तुओंमें जो उनके भेदज्ञान करानेमें कारण है सो लक्षण है। जैसे—अग्निका लक्षण उष्णपना और दंडीका लक्षण दंड। २ द्रव्यसंसरण, क्षेत्रसंसरण, कालसंसरण, भवसंसरण और भावसंसरण—रूप पांच प्रकारके संसरण वा परावर्तन हैं।

समस्त कर्मोंको काटकर मुक्त हो गये हैं, उनको **मुक्त जीव** अथवा **सिद्ध जीव** कहते हैं ॥ १० ॥

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारी जीव समनस्क और अमनस्क दो प्रकारके हैं। जिनके मन होता है उनको **समनस्क** (सैनी) और जिनके मन नहीं होता है उनको **अमनस्क** (असैनी) कहते हैं ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—(**संसारिणः**) संसारीजीव (**त्रयस्थावराः**) त्रस और स्थावर दो प्रकारके हैं। द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवोंको **त्रस** कहते हैं और एकेंद्रिय जीवोंको **स्थावर** कहते हैं ॥१२॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थ—(**पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः**) पृथिवीकायिक[1], अप्-कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके जीव (**स्थावराः**) स्थावर[2] हैं। इनके एक ही स्पर्शन इंद्रिय होती है। इनके दशप्राणोंमेंसे केवल इंद्रियप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुप्राण ये चार ही प्राण होते हैं ॥ १३ ॥

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—(**द्वींद्रियादयः**) द्वींद्रियादिक जीव (**त्रसाः**[3]) त्रस हैं ॥ १४ ॥

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

---

१ पृथ्वी ही है काय अर्थात् औदारिक शरीर जिनका सो पृथिवीकाय स्थावर जीव हैं। २ जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे **स्थावर** होते है। ३ जीव-विपाकी त्रसनामकर्मके उदयसे **त्रस** होते हैं।

अर्थ—सब इंद्रियें पांच हैं ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—ये सब इन्द्रियें दो दो प्रकारकी हैं पहली द्रव्येंद्रिय और दूसरी भावेंद्रिय ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥१७॥

अर्थ—(द्रव्येंद्रियं) द्रव्येंद्रिय (**निर्वृत्त्युपकरणे**) निर्वृत्तिरूप और उपकरणरूप दो प्रकारकी हैं। नामकर्मके निमित्तसे जो इन्द्रियाकार रचनाविशेष हो, उसे **निर्वृत्ति** कहते हैं और निर्वृत्तिको जो सहायक हो, उसे **उपकरण** कहते हैं। निर्वृत्ति और उपकरण भी दो दो प्रकारके हैं। एक आभ्यंतरनिर्वृत्ति और एक बाह्यनिर्वृत्ति। आत्माके प्रदेशोंका इन्द्रियोंके आकाररूप होना सो **आभ्यंतर-निर्वृत्ति** है और पुद्गलपरमाणुओंकी इन्द्रियरूप रचना होना सो **बाह्यनिर्वृत्ति** है। जैसे—नेत्र इन्द्रियमें नेत्र इन्द्रियके आकाररूप आत्माके जितने प्रदेश मसूरके समान फैले हैं वे आभ्यंतरनिर्वृत्ति हैं और उसमें जितने पुद्गलपरमाणु मसूरके आकारमें परिणत हुए हैं वे बाह्यनिर्वृत्ति हैं। और मसूरके आकाररूप नेत्रेंद्रियके चारों ओर सफेदभाग, काला और बाफणी, पलक आदि **बाह्योपकरण** हैं। और इनरूप जो आत्माके प्रदेशोंका परिणमन हैं, वे **आभ्यंतर उपकरण** हैं इसी प्रकार कर्ण आदि इन्द्रियोंमें भी जानना ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग ये दो (**भावें-द्रियम्**) भावेंद्रिय हैं। जिसके होनेसे आत्मा द्रव्येंद्रियकी रचनामें प्रवृत्ति करे, ऐसी ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्तिविशेषके

लब्धि कहते हैं और क्षयोपशमलब्धिके निमित्तसे आत्माका विषयोंके प्रति परिणमन होनेसे जो आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है सो **उपयोग** है। जैसे—कोई जीव सुनना तो चाहे परंतु सुननेकी क्षयोपशमरूप शक्ति नहीं हो, तो वह सुन नहीं सकेगा। इसलिये ज्ञानका कारण होनेसे लब्धिको इन्द्रिय मानी है और उपयोग इन्द्रियका फल वा कार्य है, इसलिए कार्यमें कारणका उपचार किया गया है। अथवा इन्द्रियें जिसप्रकार आत्माके परिचयकी हेतु हैं, उसीप्रकार उपयोग भी मुख्य हेतु है, इसकारण उपयोगको इन्द्रिय कहा है ॥ १८ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नासिका), चक्षु (नेत्र) और श्रोत्र (कान) ये पांच इन्द्रियें[1] हैं ॥ १९ ॥

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—(**स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः**) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पांच (**तदर्थाः**) उक्त पांचों इन्द्रियोंके विषय वा ज्ञेय हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श[2] अर्थात् छूना है। रसन इन्द्रियका विषय रस[3] अर्थात् स्वाद लेना है। घ्राण इन्द्रियका विषय सुगंधि दुर्गंधि सूंघना है। नेत्र इन्द्रियका विषय वर्ण[4] (रंग) का देखना है और श्रोत्र इंद्रियका विषय शब्दोंका सुनना है ॥ २० ॥

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

---

१ ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं—ज्ञान करानेमें सहायक होनेसे। २ शांत, उष्ण, रूक्ष, सचिक्कण, कठोर, कोमल, हलका और भारी ये स्पर्शके आठ भेद हैं। ३ तिक्त, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस हैं। ४ श्वेत, पीत, नील, अरुण और कृष्ण ये पांच वर्ण हैं।

अर्थ—(श्रुतम्) श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ (अनिंद्रियस्य) मनका विषय हैं ॥ २१ ॥

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(वनस्पत्यंतानाम्) वनस्पतिकाय है अंतमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचों प्रकारके जीवोंके (एकम्) पहली स्पर्शन इंद्रिय ही है। अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इंद्रियके धारक एकेंद्रिय जीव (स्थावरजीव) हैं ॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि २३

अर्थ—(कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनां) लट, चिउँटी, भौंरा, मनुष्य आदिकके (एकैकवृद्धानि) क्रमसे एक एक इंद्रिय बढ़ती हुई है। अर्थात् लट (गिंडाड़) वगैरहके स्पर्शन और रसन दो इंद्रियें हैं। चिउँटी वगैरहके स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इंद्रियें हैं। भौंरा आदि जीवोंके स्पर्शन, रसन, घ्राण और नेत्र ये चार इंद्रियें है। तथा मनुष्य, देव, नारकी और गौ आदि पशुओंके पांचों ही इंद्रियें हैं ॥ २३ ॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—(समनस्काः) जो मनसहित हैं वे जीव (संज्ञिनः) संज्ञी हैं। जिन्हें अपने हित अहितका अथवा गुण दोषादिका विचार हो तथा शिक्षा, क्रिया, आलापके ग्रहण करनेरूप संज्ञा हो, उनको संज्ञी पंचेंद्रिय कहते हैं ॥ २४ ॥

शंका—यदि जीव सदा मनसे ही हितादिकी प्राप्तिरूप प्रत्येक कर्म कर सकता है, तो विग्रहगतिमें जहां मन नहीं है, वहां नूतन शरीरके

लिए किस प्रकार गमन करता है ? यह शंका दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं:—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ—(विग्रहगतौ[1]) नया शरीर धारण करनेके लिये जो गति अर्थात् गमन होता है, उसमें (कर्मयोगः) कार्माणयोग है अर्थात् कार्माणयोगसे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है ॥ २५ ॥

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ—(गतिः) जीव और पुद्गलोंका गमन (अनुश्रेणि) आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीका अनुसरण करके होता है। श्रेणीको (प्रदेशोंकी पंक्तिको) छोड़कर विदिशारूप गमन नहीं होता है। **भावार्थ**—मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिए जीवोंका जो गमन होता है, वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। तथा जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक समयमें चौदह राजू गमन करता है, तब वह भी श्रेणीरूप गमन करता है। अन्य अन्य अवस्थामें श्रेणीरूप गमन नहीं है ॥ २६ ॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—(जीवस्य) मुक्त जीवकी गति (अविग्रहा) वक्रतारहित (मोड़ेरहित) सीधी होती है अर्थात् मुक्त जीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है—इधर उधर नहीं मुड़ता है ॥ २७ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

---

१ विग्रहाय शरीराय गतिर्गमनम्—नवीन शरीरके वास्ते जो गति है सो विग्रहगति कहलाती है।

अर्थ—(च) और (संसारिणः) संसारी जीवकी गति (प्राक् चतुर्भ्यः) चार समयसे पहले पहले (विग्रहवती[1]) विग्रहवती या मोड़ेवाली है। भावार्थ—संसारी जीवकी गति एक समयमें तथा दो तीन समयमें भी होती है अर्थात् संसारी जीव दूसरे समयमें पहला मोड़ा, तीसरे समयमें दूसरा मोड़ा और चौथे समयसे पहले तीसरा मोड़ा लेकर किसी न किसी स्थानमें नवीन शरीर धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—(अविग्रहा) मोडारहित गति (एकसमया) एक समय मात्र ही होती है। इसको ऋजुगति भी कहते हैं ॥ २९ ॥

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिवाला जीव (एकं) एक समयमें (द्वौ) दो समयमें (वा) तथा (त्रीन्) तीन समयमें (अनाहारकः) अनाहारक है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरके और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलवर्गणाके ग्रहणको **आहार** कहते हैं। जीव जबतक ऐसे आहारको ग्रहण नहीं करता है, तबतक उसे **अनाहारक** कहते हैं। जीव बहुतसे बहुत विग्रहगतिमें तीन समय तक रहता है, चौथे समयमें शरीरपर्याप्तिको ग्रहण करके आहारक हो जाता है ॥३०॥

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—(जन्म) नवीन शरीरका धारण (**संमूर्छनगर्भोपपादाः**) संमूर्छन, गर्भ और उपपाद ऐसा तीन प्रकारका होता है। अर्थात्

---

१ यहां विग्रह शब्दका अर्थ मोड या टेढ़ है। २ 'कालाध्वयोर्व्याप्तौ'। ११२।१२१। शाक०। इससे निरंतर व्याप्तकाल आधारमें द्वितीया विभक्ति है।

संमूर्च्छनजन्म, गर्भजन्म और उपपादजन्म ऐसे तीन प्रकारके जन्म हैं। तीन लोकमें भरे हुए चारों ओरके पुद्गल परमाणुओंसे अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी विशेषताके अनुसार (मातापिताके रजोवीर्यके मिलनेके विना ही) देहकी रचना होनेको **संमूर्च्छनजन्म** कहते हैं। स्त्रीके गर्भाशयमें माताके रज और पिताके वीर्यके संयोगसे जो जन्म होता है उसे **गर्भजन्म** कहते हैं। और मातापिताके रजोवीर्यके विना देवनारकियोंके स्थानविशेषमें जो जन्म होता है, उसे **उपपादजन्म** कहते हैं॥ ३१॥

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ३२

अर्थ—(**सचित्तशीतसंवृताः**) सचित्त, शीत, संवृत और (**सेतराः**) इनसे उलटी, अचित्त, अशीत (उष्ण), विवृत (**च**) संवृतविवृत इस प्रकार (**एकशः**) क्रमसे (**तद्योनयः**) उन सम्मूर्च्छनादि जन्मोंकी नौ योनियां वा उत्पत्तिस्थान हैं। योनि दो प्रकारकी हैं, आकारयोनि और गुणयोनि। उनमेंसे यहांपर गुणयोनिकी अपेक्षा भेद कहे हैं। आकारयोनिके तीन भेद हैं, शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। इनमेंसे शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं ठहरता है, कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर, अर्द्धचक्री, चक्रवर्ति, बलभद्र, तथा उनके भाइयोंके सिवाय कोई भी पैदा नहीं होता और वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भजन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं॥ ३२॥

जरायुजांडजपोतानां गर्भः॥ ३३॥

अर्थ—(**जरायुजांडजपोतानां**) जरायुज, अंडज और पोत इन तीन प्रकारके जीवोंका (**गर्भः**) गर्भजन्म है। जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुए पैदा

होते हैं, उनको जरायुज कहते हैं। माताके रुधिर और पिताके वीर्यसे बने हुए, नखकी त्वचाके समान कठिन गोल गोल आवरणको अंडा कहते हैं और अंडेसे जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें अंडज कहते हैं और जिनके ऊपर जरा अंडा कुछ भी आवरण नहीं होता है, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते हैं, उन्हें पोत कहते हैं ॥ ३३ ॥

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ—(देवनारकाणाम्) चारप्रकारके देवोंका और नारकी जीवोंका (उपपादः) उपपादजन्म होता है ॥ ३४ ॥

शेषाणां संमूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—(शेषाणां) शेषके अर्थात् गर्भ और उपपाद जन्मवालोंसे वाकी रहे हुए संसारी जीवोंका (संमूर्च्छनम्) संमूर्च्छनजन्म है ३५

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन सब जीवोंके (शरीराणि) शरीर औदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि) औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण इस तरह पांच प्रकारके होते हैं। स्थूल अर्थात् इंद्रियोंसे देखने योग्य शरीरको औदारिकशरीर कहते हैं। जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, हलका, भारी इत्यादि विकार होनेकी योग्यता हो, उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं। सूक्ष्म पदार्थके निर्णयकेलिये वा संयम पालनेकेलिये प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनियोंके शिरसे जो शरीर प्रगट होता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं। जिससे शरीरमें तेज होता है, उसे तैजसशरीर कहते हैं और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्माणशरीर कहते हैं ॥ ३६ ॥

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—(परं परं) औदारिकसे अगले अगले शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्माणशरीर सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥ किन्तुः—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(प्रदेशतः) प्रदेशों[1] की अपेक्षा (तैजसात् प्राक्) तैजसशरीरसे पहले पहलेके शरीर (असंख्येयगुणं) असंख्यातगुणे हैं अर्थात् औदारिकशरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यातगुणे परमाणु वैक्रियिकशरीरमें हैं और वैक्रियिकशरीरसे असंख्यातगुणे परमाणु आहारकशरीरमें हैं ॥ ३८ ॥

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—(परे) शेषके दो शरीर अर्थात् तैजस और कार्माणशरीर (अनंतगुणे) अनंतगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात् आहारकशरीरसे अनंतगुणे परमाणु तैजसशरीरमें हैं और तैजससे अनंतगुणे परमाणु कार्माणशरीरमें हैं ॥ ३९ ॥

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

अर्थ—और ये दोनों तैजस और कार्माणशरीर अप्रतीघात हैं अर्थात् अन्य मूर्तिमान पुद्गलादिकोंसे रुकते नहीं हैं। जैसे—अग्निके परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमन होनेके कारण लोहेके पिंडमें प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार तैजस और कार्माणशरीर भी वज्रमय पटलोंसे नहीं रुकते हैं और न किसी अन्य पदार्थको रोक सकते हैं ॥ ४० ॥

---

१ यहां प्रदेश शब्दका अर्थ परमाणु है।

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—ये दोनों शरीर आत्माके साथ (अनादिसंबंधे) अनादि कालसे संबंध रखनेवाले हैं अर्थात् संसारी जीवोंके ये दोनों शरीर नित्य ही साथ रहते हैं। (च) यदि सन्तानकी अविवक्षा हो तो सादि सम्बन्धवाले भी हैं ॥ ४१ ॥

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ॥ ४२ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थ—(तदादीनि) इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर (भाज्यानि) विभाजित किये हुए (एकस्य) एक जीवके (युगपत्) एक साथ (आ चतुर्भ्यः) चार शरीर[1] तक होते हैं। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्माण होते हैं तीन हों तो औदारिक, तैजस और कार्माण होते हैं अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्माण ये तीन भी होते हैं। परंतु ये देव तथा नरक गतिमें ही होते हैं। यदि किसीके एक साथ चार शरीर हों तो औदारिक आहारक, तैजस और कार्माण होते हैं ॥ ४३ ॥

निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अंत्यम्) अंतका कार्माणशरीर (निरुपभोगम्) उपभोगरहित अर्थात् इंद्रियों द्वारा शब्दादिक विषयोंके उपभोगसे रहित है ॥ ४४ ॥

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

---

१ जिसके वैक्रियिक होता है उसके आहारक नहीं होता और जिसके आहारक होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता। इस कारण एक जीवके एक समयमें पांच शरीर होना असम्भव है। एक शरीरवाला भी कोई जीव नहीं है।

अर्थ—(गर्भसंमुच्छर्नजम्) जो गर्भजन्म और समूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होता है, सो (आद्यं) आदिका औदारिकशरीर है ॥ ४५ ॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ-(औपपादिकम्) जो उपपादजन्मसे होता है वह (**वैक्रियिकम्**) वैक्रियिकशरीर है ॥ ४६ ॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ-वैक्रियिकशरीर (**लब्धिप्रत्ययं च**) लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूप ऋद्धिकी प्राप्तिके निमित्तसे भी होता है ॥ ४७ ॥

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ-(**अपि**) तथा (**तैजसम्**[1]) तैजसशरीर भी लब्धिप्रत्यय अर्थात् ऋद्धि होनेसे प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव

अर्थ-(**आहारकं**) आहारकशरीर (**शुभं**) शुभ है अर्थात् शुभ कार्यको पैदा करता है (**विशुद्धं**) विशुद्ध है अर्थात् विशुद्ध कर्मका कार्य है (**च**) और (**अव्याघाति**) व्याघातरहित[2] है तथा (**प्रमत्तसंयतस्य एव**) प्रमत्तसंयतमुनिके ही होता है ॥ ४९ ॥

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ-(**नारकसंमूर्च्छिनः**) नारकी और संमूर्च्छिन जीव (**नपुंसकानि**) नपुंसक होते हैं ॥ ५० ॥ किंतु—

न देवाः ॥ ५१ ॥

---

१ तैजस शरीर दो प्रकारका है, भिन्नतैजस और अभिन्नतैजस। इनमेंसे यह भिन्नतैजस ही ग्रहण करना चाहिये। वह शुभ और अशुभ दो तरहका होता है। अभिन्नतैजस संसारी मात्रके होता है। २ अढाईद्वीपमें ह्वां।

अर्थ—(देवाः) चार प्रकारके देव नपुंसक (न) नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही होते हैं, नपुंसक नहीं होता है ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—(शेषाः) नारकी, देव और संमूर्छिनोंके अतिरिक्त गर्भज, तिर्यंच और मनुष्य (त्रिवेदाः) तीनों वेदवाले अर्थात् पुरुष, स्त्री और नपुंसक होते हैं ॥ ५२ ॥

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थ—(औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषः) देव, नारकी, चरमोत्तमदेह[1] और असंख्यातवर्षकी आयुवाले भोगभूमिके जीव (अनपवर्त्यायुषः[2]) परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती है ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय।

जीव पदार्थके कथनमें उसके निजतत्त्व बतलाये जा चुके। अब उसके रहनेके स्थान जो तीन लोक हैं उनमेंसे पहले अधोलोकका वर्णन करते हैं;—

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

१ अंतकी उत्कृष्ट देह धारण करनेवाले अर्थात् उसी भवमे मोक्ष जानेवाले तीर्थंकरादि। २ अपवर्त्य नाम घटने योग्यका है। नहीं घटने योग्य हैं आयु जिनका सो अनपवर्त्यायुष हैं।

अर्थ—(रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाः) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये (सप्त) सात (भूमयः) भूमियाँ हैं और (अधोऽधः) क्रमसे एकके नीचे दूसरी, दूसरीके नीचे तीसरी इसप्रकार नीचे नीचे (घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः) तीन वातवलय आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियाँ घनोदधि वातवलयके आधार हैं; घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है; घनवातवलय तनुवातवलयके आधार है और तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश अपने ही आधार है ॥ १ ॥

विशेष—रत्नप्रभा नामकी पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजनकी[३] मोटी है। उसके तीन विभाग हैं। उनमेंसे सोलह हजार योजन मोटा उपरका **खरभाग** है। उसमें चित्रा, वज्रा, वैडूर्य इत्यादि एक एक हजार योजनकी मोटी सोलह पृथिवी हैं। इसमेंसे ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजनकी दो पृथिवी छोड़कर बीचकी चौदह हजार योजन मोटी और एकराजु लंबी चौड़ी पृथिवीमें किंनर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार,

१ इस सूत्रमें जो 'वात' शब्द आया है, व्याकरणके एक नियमके अनुसार समासांत है। दो 'वात' शब्दोंका समास होकर उनमेंसे एकका लोप हो गया है— "**वातश्च वातश्च वातौ**" इससे घनांबुवात (घनोदधिवात) और घनवात समझना। और 'घन' शब्द सामान्य है इस लिए इसका विशेष तनुवात भी समझना। इस तरह 'घनांबुवात' पदसे घनोदधिवात, घनवात और तनुवात ये तीन वातवलय समझना। २ पृथिवियोंके रत्नप्रभादिक नाम गुणोंके अनुसार हैं, रूढि नहीं हैं। रूढि नाम घंमा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी हैं। ३ यहां एक योजन दो हजार कोशका समझना चाहिये।

वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौ प्रकार भवनवासी देवोंके निवासस्थान हैं। खरभागके नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पंकभाग है। उसमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवासस्थान हैं और पंकभागके नीचे अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुलभाग है, उसमें प्रथम नरक है। उसके नीचे एक एक राजुका अंतराल छोड़कर शर्कराप्रभादि पृथिवी हैं। उन सबमें ही नारकियोंके रहनेके बिल अर्थात् निवासस्थान हैं॥ १॥

ये बिल कौन कौनसी पृथिवीमें कितने कितने हैं, यह बतलानेके लिए सूत्रकार कहते हैं;—

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम्॥ २॥

अर्थ—(तासु) उन रत्नप्रभादि सातों पृथिवियोंमें (यथाक्रमं) क्रमसे (त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि) तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख (च) और (पंच एव) पांच ही नरक हैं। अर्थात् प्रथम पृथिवीमें तीस लाख, दूसरी पृथिवीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पंद्रह लाख, चौथीमें दश लाख, पांचवीमें तीन लाख, छट्ठीमें पांच कम एक लाख और सातवीमें पांच नरक हैं और ये नरक (बिले) गोल, त्रिकोण, चौकोण इत्यादि अनेक प्रकारके हैं और उनमें कई एक संख्यात योजनके और कई एक असंख्यात योजनके लंबे चौड़े हैं। बिलोंके अंतरालमें प्रत्येक बिलके चारों ओर पृथिवीस्कंध हैं। जैसे—ढोलको पृथिवीमें गाड़ देनेसे चारों तरफ पृथिवी रहती है और भीतर पोल रहती है, उसी प्रकारसे पृथिवीस्कन्धोंके बीचमें ढोलके भीतरकी पोलके समान बिले होते हैं॥ २॥

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ—(**नारका**[1]) नारकी जीव (**नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः**) सदा ही अशुभतर लेश्यावाले, अशुभतर परिणामवाले, अशुभतर देहके धारक, अशुभतर वेदनावाले और अशुभतर विक्रिया करनेवाले होते हैं। निरंतर अशुभ कर्मका उदय रहनेके कारण उनके परिणाम आदि सदा अशुभ ही रहते हैं ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः[2] **॥ ४ ॥**

अर्थ—नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थात् कुत्तोंकी तरह निरंतर परस्पर लड़ते झगड़ते रहते हैं ॥ ४ ॥

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ—(**च**) तथा वे नारकी जीव (**प्राक् चतुर्थ्याः**) चौथे नरकसे पहले अर्थात् पहले, दूसरे तीसरे नरक पर्यंत (**संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः**[3]) अंवांबरीष जातिके संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंके द्वारा भी दुःखी किये जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार इस लोकमें अनेक अज्ञानी पुरुष मेंढ़े, भैंसे, हाथियोंको मद्य पिलाकर परस्पर लड़ाते हैं और उनकी हार जीतसे आनंद मनाते हैं वा तमाशा देखते हैं, उसी प्रकार तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञानसे उनके पूर्व वैरोंका स्मरण कराकराके परस्पर लड़ाते तथा दुःखित करते रहते हैं और आप तमाशा देखते हैं ॥ ५ ॥

---

१ '**नरान् जीवान् कायतीति नरकस्तत्र भवाः नारकाः**' जिसके स्पर्श करनेसे जीव रोने चिल्लाने लग जाते हैं वे नरक हैं। और उनमें जो पैदा होते हैं सो नारक कहलाते हैं। २ उदीरित किया हुआ। ३ 'उदीरितदुःखाः' दिया गया है दुःख जिनको ऐसे।

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंश-त्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—(तेषु) उन नरकोंमें रहनेवाले (सत्त्वानां) नारकी जीवोंकी (परा) उत्कृष्ट—बड़ीसे बड़ी (स्थितिः) आयु (एक-त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) पहले नरकमें एक सागरकी, दूसरे नरकमें तीन सागरकी, तीसरे नरकमें सात साग-रकी, चौथे नरकमें दश सागरकी, पांचवेंमें सतरह सागरकी, छट्ठेमें बाईस सागरकी और सातवें नरकमें तेतीस सागरकी है ॥ ६ ॥

अब मध्यलोकका वर्णन करते हैं:—

जंबूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ७

अर्थ—इस चित्रा पृथिवीपर (जंबूद्वीपलवणोदादयः) जंबूद्वीपा-दिक तथा लवणसमुद्रादिक (शुभनामानः) उत्तम उत्तम नामवाले (द्वीपसमुद्राः) द्वीप और समुद्र हैं।

विशेष—सबके बीचमें जंबूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवण-समुद्र है, उसके चारों तरफ धातुकीखंडद्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधिसमुद्र है, उस (कालोदधिसमुद्र) के चारों ओर पुष्कर-वरद्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवरसमुद्र है। इसीप्रकार एक दूसरेको वेढ़े हुए अंतके स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यंत असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः॥८॥

अर्थ—प्रत्येक द्वीप समुद्र (वलयाकृतयः) गोल चूड़ीके आकार (पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः) पहले पहले द्वीप तथा समुद्रको घेरे हुए (द्विर्द्विर्विष्कंभाः) एक दूसरेसे दुगुणे दुगुणे विस्तारवाले हैं। अर्थात् जंबूद्वीपसे दुगुणी चौड़ाईका लवणसमुद्र है, लवणसमुद्रसे द्विगुणा

धातुकीद्वीप है, धातुकीद्वीपसे द्विगुणा कालोदधिसमुद्र है और कालोदधिसमुद्रसे द्विगुणा पुष्करवरद्वीप है। इसीप्रकार अगले अगले द्वीप समुद्र दुगुणे दुगुणे हैं ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबूद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थ—(**तन्मध्ये**) उन सब द्वीप समुद्रोंके बीचमें (**मेरुनाभिः**) सुमेरु पर्वत है नाभि[1] जिसकी ऐसा और (**वृत्तः**) गोलाकार तथा (**योजनशतसहस्रविष्कंभः**) एक लाख योजन लंबा चौड़ा (**जंबूद्वीपः**) जंबूद्वीप है। जंबूद्वीपकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष, तेरह अंगुलोंसे कुछ अधिक है। यहां भी दो हजार कोशका योजन समझना चाहिये ॥ ९ ॥

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थ—इस जंबूद्वीपमें (**भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः**) भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात (**क्षेत्राणि**) क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

अर्थ—(**तद्विभाजिनः**) उक्त सातों क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले (**पूर्वापरायताः**) पूर्व पश्चिम लंबे (**हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः**) हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह (**वर्षधरपर्वताः**) क्षेत्रोंको धारण

---

[1] सबके बीचमें सुमेरु पर्वत है, इसलिए उसको नाभिकी उपमा दी गई है।

करनेवाले अर्थात् विभाग करनेवाले पर्वत हैं। इस भरतक्षेत्र और हैमवतक्षेत्रके बीचमें हिमवान्‌पर्वत हैं, जिसको हिमाचल भी कहते हैं। इसीप्रकार सातों क्षेत्रोंके बीचमें छह पर्वत हैं, जो षट्कुलाचल कहलाते हैं ॥ ११ ॥

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः[1] ॥१२॥

अर्थ—हिमवान्‌पर्वत सुवर्णमय अर्थात् पीतवर्णका है, महाहिमवान् पर्वत सफेद चांदीके समान रंगवाला है, तीसरा निषधपर्वत तपाये सुवर्णके समान है, चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमय अर्थात् मयूरके कंठके समान नीले रंगका है, पांचवां रुक्मीपर्वत चांदीके सदृश शुक्ल वर्ण है और छठा शिखरीपर्वत सोनेके समान पीत वर्णका है ॥ १२ ॥

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः १३

अर्थ—(मणिविचित्रपार्श्वाः) जिनके पार्श्वभाग अर्थात् पसवाड़े नानाप्रकारके रंगवाले और प्रभावाले मणियोंसे विचित्र हो रहे हैं और (उपरि मूले) ऊपर, नीचे (च) तथा मध्यमें जो (तुल्यविस्ताराः) एकसे चौड़े—दीवालके समान हैं, ऐसे वे छहों पर्वत हैं ॥ १३ ॥

पद्ममहापद्मतिगिंछकेशरिमहापुंडरीकपुंडरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—(तेषाम्) उन पर्वतोंके (उपरि) ऊपर (पद्ममहा-

---

१ इस सूत्रके अंतमे जो ‘ मय ’ शब्द है उसके अर्थ दो हो सकते हैं, एकसे यह मालूम होता है कि ये पर्वत, सोने चांदी आदिके हैं और दूसरेसे यह कि वे सोने चांदी आदिके रंगोंके समान रंगवाले है। इन दोनों अर्थोंमेंसे हमारी समझमें दूसरा अर्थ लेना चाहिये। ‘ सर्वार्थसिद्धि ’ टीकासे भी ऐसा ही अर्थ प्रगट होता है।

पद्मतिगिंछकेशरिमहापुंडरीकपुंडरीकाः) पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुंडरीक और पुंडरीक ये छह (ह्रदाः) ह्रद अर्थात् सरोवर है। भावार्थ—हिमवान्पर्वतपर पद्म नामका ह्रद है, महाहिमवान्पर महापद्म है, निषधपर तिगिंछ है, नीलपर केशरी है, रुक्मीपर महापुंडरीक है और शिखरीपर्वतपर पुंडरीक ह्रद है ॥ १४ ॥

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कंभो ह्रदः ॥१५॥

अर्थ—इनमेंसे (प्रथमः) पहला (ह्रदः) तालाव (योजनसहस्रायामः) पूर्व पश्चिम एक हजार योजन लंबा है और (तदर्द्धविष्कंभः) उससे आधा—पांच सौ योजन उत्तर दक्षिण चौड़ा है ॥ १५ ॥

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—वह पद्महृद दश योजन गहरा है ॥ १६ ॥

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—(तन्मध्ये) उसके बीचमें (योजनं) एक योजनका लंबा चौड़ा (पुष्करम्) कमल है ॥ १७ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थ—(तद्द्विगुणद्विगुणाः) उस पहले तालाव और कमलसे दुगुणे दुगुणे लंबे चौड़े अगले अगले (ह्रदाः) तालाव (च) और (पुष्कराणि) कमल हैं। भावार्थ—पद्महृदसे दूना महापद्म ह्रद है और महापद्मसे दुगुणा तिगिंछ ह्रद है। इन तीनों ह्रदोंके बराबर ही उत्तर तरफसे तीनों पर्वतोंके तीनों ह्रद हैं तथा तीनों ह्रदोंके कमलोंके बराबर कमल हैं ॥ १८ ॥

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

अर्थ—(तन्निवासिन्यः) उक्त छहों कमलोंमें रहनेवाली (श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः) श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी छह (देव्यः) देवियां हैं जो कि (पल्योपमस्थितयः) एक पल्यकी बराबर आयुवाली और (ससामानिकपरिषत्काः) सामानिक, परिषत्क जातिके देवोंसहित निवास करती हैं। **भावार्थ**—सरोवरके ऊपर कहे हुए ये कमल रत्नोंके बने हुए हैं, और उनकी कर्णिकाओंमें अतिशय उज्ज्वल महल बने हुए हैं जिनमें ये श्री, ह्री आदि छह देवियां रहती हैं। सरोवरमें चारों ओर इन कमलोंकी आधी ऊंचाईके और भी अनेक रत्नमयी कमल हैं, जिनमें रत्नमयी महल हैं और उनमें देवियोंके परिवारके सामानिक और परिषत्क जातिके देव रहते हैं ॥ १९ ॥

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारी नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—(तन्मध्यगाः) उक्त सातों क्षेत्रोंमें बहनेवाली (गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः) गंगा, सिंधु, रोहित् रोहितास्या, हरित्, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह (सरितः) नदियां हैं, जो उक्त छहों सरोवरोंसे निकली हुई हैं। इनमेंसे पहले पद्महृद और छट्ठे पुंडरीक हृदमेंसे तीन तीन अर्थात् आदि अंतकी छह

---

१ 'समानेभवाः' जो एकसे ऐश्वर्यके धारण करनेवाले हों वे सामानिक हैं। 'परिषदि प्रधानाः' सभामें जो प्रधान हों वे परिषत्क अर्थात् सभासद कहलाते हैं।

नदियां निकली हैं और बीचके चार ह्रदोंमेंसे दो दो नदियां निकली हैं। सो भरतक्षेत्रमें गंगा और सिंधु, हैमवतक्षेत्रमें रोहित् और रोहितास्या, हरिक्षेत्रमें हरित् और हरिकांता, विदेहक्षेत्रमें सीता और सीतोदा, रम्यकक्षेत्रमें नारी और नरकांता, हैरण्यवतक्षेत्रमें सुवर्णकूला और रूप्यकूला, और ऐरावतक्षेत्रमें रक्ता और रक्तोदा इसप्रकार दो दो नदियां एक एक क्षेत्रम बहती हैं ॥ २० ॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—एक एक क्षेत्रमें जो दो दो नदियां वहती हैं, उन (**द्वयोः द्वयोः**) दो दो नदियोंके सात युगलोंमेंसे (**पूर्वः**) पहली पहली नदियां (**पूर्वगाः**) पूर्व समुद्रमें जानेवाली हैं।

भावार्थ—गंगा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सातों नदियां पूर्वके समुद्रमें जाकर मिलती हैं ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ—(**तु**) और (**शेषाः**) शेषकी सात नदियां अर्थात् सिंधु रोहितास्या, हरिकांता, सीतोदा, नरकांता रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां (**अपरगाः**) पश्चिमके समुद्रमें जाकर मिलती हैं ॥२२॥

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंध्वादयो नद्यः२३

अर्थ—(**गंगासिंध्वादयः**) गंगा, सिंधु आदिक (**नद्यः**) नदियां (**चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः**) चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित हैं। अर्थात् गंगामें छोटी छोटी चौदह हजार नदियां आकर मीली हैं। इसी प्रकार सिंधुमें भी चौदह हजार नदियां मिली हैं। रोहित् और रोहितास्याकी परिवार नदियां अट्ठाईस अट्ठाईस

---

१ सूत्रमें 'नदी' शब्दका प्रयोग दो बार आनेसे १८ वें सूत्रके 'द्विगुणद्विगुणाः' पदकी अनुवृत्ति समझना चाहिये इसीसे गंगा, सिंधुसे रोहित, रोहि-

हजार हैं। हरित् और हरिकांताकी छप्पन २ हजार हैं। सीता और सीतोदाकी एक २ लाख और वारह २ हजार हैं। और इससे उत्तरके तीन क्षेत्रोंकी क्रमसे दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान परिवार नदियां हैं—अर्थात् नारी और नरकांताकी छप्पन २ हजार, सुवर्ण-कूला और रूप्यकूलाकी अट्ठाईस २ हजार और रक्ता और रक्तोदाकी चौदह २ हजार परिवारकी नदियां हैं ॥ २३ ॥

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः
षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—(**भरतः**) भरतक्षेत्र (**षड्विंशतिपंचयोजनशत-विस्तारः**) दक्षिण उत्तरमें पांच सौ छव्वीस योजन (**च**) और (**योजनस्य**) एक योजनके (**एकोनविंशतिभागाः**) उन्नीसवें भागमेंसे (**षट्**) छह भाग अर्थात् $\frac{६}{१९}$ योजन अधिक विस्तारवाला है। कुल विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन है ॥ २४ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः २५

अर्थ—(**विदेहांताः**) विदेहक्षेत्र तकके (**वर्षधरवर्षाः**) पर्वत और क्षेत्र (**तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः**) उस भरतक्षेत्रसे दुगुणे दुगुणे विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

उत्तरा दाक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ—(**उत्तराः**) विदेहक्षेत्रसे उत्तरके तिन पर्वत और तीन क्षेत्र (**दाक्षिणतुल्याः**) दक्षिणके पर्वतों और क्षेत्रोंके वरावर विस्तारवाले हैं ॥ २६ ॥

तास्या आदिकी दूनी दूनी सहायक नदियां कही हैं और '**उत्तरा दाक्षिण-तुल्याः**' सूत्रके अनुसार उत्तर दक्षिणकी रचना एकसी समझना चाहिये।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामु-त्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(**उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां**) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-रूप (**षट्समयाभ्यां**) छह कालोंसे (**भरतैरावतयोः**) भरत और ऐरावतक्षेत्रोंके मनुष्योंकी आयु, काय, भोगोपभोग, सम्पदा, वीर्य, बुद्धि आदिका (**वृद्धि-ह्रासौ**) बढ़ना और घटना होता है। **भावार्थ**—उत्सर्पिणीके छह कालोंमें वृद्धि और अवसर्पिणीके छह कालोंमें दिनोंदिन घटी होती जाती है। अवसर्पिणी कालके १ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुःषमा, ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा, और ६ दुःषमदुःषमा ऐसे छह भाग हैं। इसीप्रकार उत्सर्पिणीके भी १ दुःषमदुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमसुषमा, ४ सुषमदुःषमा, ५ सुषमा, और ६ सुषमसुषमा ये छह भाग हैं। अवसर्पिणीका काल दश कोड़ाकोड़ी सागरका है और उत्सर्पिणीकाल भी दश कोड़ाकोड़ी सागरका है। दोनों कालोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। पहला **सुषमसुषमा** काल चार कोड़ा-कोड़ी सागरका होता है, दूसरा **सुषमा** तीन कोड़ाकोड़ी सागरका, तीसरा **सुषमदुःषमा** दो कोड़ाकोड़ी सागरका, चौथा **दुःषमसुषमा** ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका, पांचवां **दुःषमा** इक्कीस हजार वर्षका छठा **दुःषमदुःषमा** भी इक्कीस हजार वर्षका होता है। इनमेंसे पहले तीन कालोंमें उत्तम मध्यम जघन्य भोगभू-मिकीसी रचना व रीति होती है और शेषके तीन कालोंमें कर्मभूमि-

---

१ '**सुषमा**' और '**दुःषमा**' शब्दोंकी जगहपर कोई कोई लोग **सुखमा** और **दुःखमा** शब्द भी उच्चारण करते है।

कीसी होती है। अवसर्पिणीके इन कालोंमें क्रमसे आयु, काय आदि घटते रहते हैं और उत्सर्पिणीके कालोंमें बढ़ते रहते हैं ॥ २७ ॥

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थ—(ताभ्यां) उन भरत और ऐरावतके सिवाय (अपराः) अन्य पांच (भूमयः) पृथिवी (अवस्थिताः) ज्योंकी त्यों नित्य हैं अर्थात् इन क्षेत्रोंमें वृद्धि और ह्रास नहीं होता है ॥ २८ ॥

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—(हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः) हिमवान्क्षेत्रके, हरिक्षेत्रके, देवकुरुभोगभूमिके मनुष्य तिर्यंच (एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः) क्रमसे एक, दो और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥ २९ ॥

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ—(तथा) जैसे दक्षिणके क्षेत्रोंकी रचना है, उसीप्रकार (उत्तराः) उत्तरके क्षेत्रोंकी है। अर्थात् हैरण्यवतक्षेत्रकी रचना हैमवतके तुल्य है, रम्यकक्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके तुल्य है और उत्तरकुरुकी रचना देवकुरुके समान है। इसप्रकार उत्तम मध्यम जघन्यरूप इन तीनों भोगभूमियोंके दो दो क्षेत्र हैं। पांच मेरुसंबंधी तीस भोगभूमियां हैं ॥ ३० ॥

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—(विदेहेषु) पांच मेरुसंबंधी पांचों विदेहक्षेत्रोंमें (संख्येयकालाः) संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं ॥ ३१ ॥

भरतस्य विष्कंभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ—(जंबूद्वीपस्य) एक लाख योजन विस्तारवाले जंबूद्वी-

का (**नवतिशतभागः**) एक सौ नब्बेवां भाग $\frac{1}{190}$ (**भरतस्य**) भरतक्षेत्रका (**विष्कंभः**) विस्तार है ॥ ३२ ॥

द्विर्धातकीखंडे ॥ ३३ ॥

अर्थ—(**धातकीखंडे**) धातकीखंड नामके दूसरे द्वीपमें (**द्विः**) भरतादि क्षेत्र दो दो हैं। यह धातकीखंड लवणसमुद्रको बेढ़े हुए चार लाख योजन चौड़ा है ॥ ३३ ॥

पुष्करार्द्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ—(**पुष्करार्द्धे**) पुष्करद्वीपके आधे भागमें (**च**) भी भरतादि क्षेत्र जंबूद्वीपसे दूने हैं। यह पुष्करद्वीप सोलह योजन चौड़ा है और उसके बीचमें एक हजार बाईस योजन चौड़ा मानुषोत्तर पर्वत है। पहलेके अर्द्ध भागमें दो दो भरतादि क्षेत्रोंकी रचना है आगे ऐसी रचना नहीं है ॥ ३४ ॥

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—(**मानुषोत्तरात्**) मानुषोत्तर पर्वतसे (**प्राक्**) पहले अढ़ाईद्वीपमें (**मनुष्याः**) मनुष्य हैं। मानुषोत्तर पर्वतसे परेके द्वीपोंमें ऋद्धिधारक मुनि वा विद्याधरोंका भी (सिवाय विग्रह गतिवाले मारणान्तिक समुद्घात और केवलि समुद्घातवाले मनुष्योंके) सर्वथा गमन नहीं है और न उन द्वीपोंमें मनुष्य होते हैं ॥ ३५ ॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—मनुष्य (**आर्याः**) आर्य (**च**) और (**म्लेच्छाः**) म्लेच्छ इस तरह दो प्रकारके हैं। जो असि (शस्त्रधारण), मसि (लिखनेका काम), कृषि (खेती), शिल्प, वाणिज्य और विद्या (नाचना, गाना, सेवा आदि) इन छह कर्मोंसे आजीविका करते

हैं, उन्हें आर्य और जो त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसा करके अपना उदर निर्वाह करते हैं उन्हें **म्लेच्छ** कहते हैं। आर्य दो प्रकारके हैं, एक ऋद्धिप्राप्त आर्य और दूसरे अनृद्धिप्राप्त आर्य। जिनको बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ये सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, वे सात प्रकारके **ऋद्धिप्राप्त आर्य** होते हैं और जिनको ऋद्धि प्राप्त न हों, उन्हें **अनृद्धिप्राप्त आर्य** कहते हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके क्षेत्रआर्य, जातिआर्य, कर्मआर्य, चारित्रआर्य और दर्शनआर्य इसप्रकार पांच भेद हैं। इनके और भी उत्तरोत्तर भेद हैं। म्लेच्छ भी अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज दो प्रकारके हैं ॥ ३६ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—(अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः) देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्रको छोड़कर (भरतैरावतविदेहाः) पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह इसप्रकार पन्द्रह (**कर्मभूमयः**) कर्मभूमियां हैं। जिनमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्प इन छह कर्मोंकी प्रधानता हो, उनको **कर्मभूमि** कहते हैं। अथवा जहां सर्वार्थसिद्धि आदिको प्राप्त करानेवाले तथा सातवें नरकको ले जानेवाले शुभ अशुभ कर्मोंका उत्कृष्ट बंध होता है तथा तीर्थंकरत्वादि उत्तम कर्मप्रकृतियोंका बंध होता हो, उनको **कर्मभूमि** कहते हैं ॥ ३७ ॥

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—(**पराऽवरे**) उत्कृष्ट और जघन्य (**नृस्थिती**) मनुष्योंकी स्थिति अर्थात् आयु (**त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्त्ते**) तीन पल्य और अंतर्मुहूर्त्तकी है। अर्थात् उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी और जघन्य अन्त-

मुहूर्त्तकी है। मध्यके अनेक भेद हैं। मुहूर्त्तका प्रमाण दो घड़ी वा अडतालीस मिनिट है। जो दो घड़ीके भीतर भीतर हो उसे अंतर्मुहूर्त्त कहते हैं ॥ ३८ ॥

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ—(च) और (**तिर्यग्योनिजानां**) तिर्यंचोंकी आयु भी उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अंतर्मुहूर्त्तकी है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्उमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय।

अब क्रमानुसार ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए पहले उनमें रहनेवाले देवोंके भेद बतलाते हैं;—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—(**देवाः**) देव (**चतुर्णिकायाः**) चार प्रकारके हैं। अर्थात् देवोंके चार समूह हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥ १ ॥

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—(**आदितः**) पहलेसे (**त्रिषु**) तीन प्रकारके देवोंमें अर्थात् भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें (**पीतांतलेश्याः**) पीत-लेश्या तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार ही लेश्या हैं ॥ २ ॥

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थ—(कल्पोपपन्नपर्यंताः[1]) कल्पवासी पर्यंत इन चारों प्रकारके देवोंके क्रमसे (दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः) दश, आठ, पांच और वारह भेद हैं। अर्थात् दशप्रकारके भवनवासी, आठ प्रकारके व्यंतर, पांचप्रकारके ज्योतिष्क और वारहप्रकारके कल्पोपपन्न वा कल्पवासी देव हैं ॥ ३ ॥

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ—इन चारों प्रकारके देवोंमें इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक ऐसे दश भेद होते हैं। अन्य देवोंमें नहीं पाई जावें, ऐसी अणिमामहिमा आदि अनेक ऋद्धियोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हो, सो इंद्र है। जिनके स्थान, आयु, वीर्य, परिवार भोगादिक तो इंद्रके ही समान हों परंतु आज्ञा, ऐश्वर्य इंद्रके समान नहीं हो, और जिनको इंद्र अपने पिता उपाध्यायके समान वड़े गिनें, उन्हें **सामानिक** देव कहते हैं। मंत्री, पुरोहितके समान शिक्षा देनेवाले, पुत्रके समान प्रियपात्र और जिनको देखने वा वार्तालाप करनेसे इंद्रके मनको आनंद होता है, उनको **त्रायस्त्रिंश** कहते हैं। जो इंद्रकी वाह्य, अभ्यंतर और मध्यकी तीनों प्रकारकी सभाओंमें वैठने योग्य सभासद हैं, उन्हें **पारिषद** कहते हैं। इंद्रकी सभामें जो शस्त्र धारण किये हुए इंद्रके पीछे खड़े रहते हैं, वे **आत्मरक्ष** हैं। कोटपालके समान जो होते हैं, उन्हें **लोकपाल** कहते हैं। जो पियादा, अश्व, वृषभ, रथ, हस्ती,

---

[1] ऊर्ध्वलोकके दो भेद हैं कल्प और कल्पातीत। और जिनमें वैमानिक देव रहते हैं, वे भी स्थानभेदसे दो प्रकारके हैं। इनमेंसे कल्पोंमें (उपपन्न) पैदा होने वालोंके ही वारह भेद है, कल्पातीतोंके नहीं है।

गंधर्व, नर्त्तकी आदिके रूपोंको धारण करते हैं, वे **अनीक** हैं। प्रजाके समान प्रीतिके करनेवाले देवोंको **प्रकीर्णक** कहते हैं। जो सेवकोंके समान हाथी, घोड़ा, वाहन बनकर इंद्रादिककी सेवा करते हैं, उन्हें **आभियोग्य** कहते हैं। और दूर रहनेवाले तथा इंद्रादिक देवोंके सन्मानादिकके अनधिकारी, बाहर खड़े रहनेवाले **किल्विषिक** हैं। इसप्रकार (**एकशः**) एक प्रकारके देवोंके दश दश भेद हैं ॥ ४ ॥

अब व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें जो आठ आठ ही भेद हैं, सो कहते हैं:—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थ—(**व्यंतरज्योतिष्काः**) व्यंतरदेव और ज्योतिष्कदेव (**त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्याः**) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवोंसे रहित हैं। अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंमें ये दो भेद नहीं हैं ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वींद्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—(**पूर्वयोः**) पहलेके दो समूहोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यंतरोंके प्रत्येक भेदमें (**द्वींद्राः**) दो दो इंद्र हैं। **भावार्थ**—दशप्रकारके भवनवासी देवोंमें, चमर, वैरोचन आदिक वीस इंद्र हैं और आठप्रकारके व्यंतरोंमें किन्नर, किंपुरुष आदिक सोलह इंद्र हैं ॥ ६ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—(**आ ऐशानात्**) ऐशानस्वर्ग पर्यंतके देवोंमें अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्कोंमें और सौधर्म तथा ऐशान इन दो स्वर्गोंके देवोंमें (**कायप्रवीचाराः**) शरीरसे कामसेवन होता है, जैसे कि मनुष्यादिकोंमें ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ—(शेषाः) ऊपरके स्वर्गोंके देव (स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः) स्पर्श करनेसे, रूप देखनेसे, शब्द सुननेसे और विचारमात्र करनेसे प्रवीचार—कामसेवन करनेवाले हैं। भावार्थ—सानत्कुमार और माहेंद्र इन दो स्वर्गोंके देवों तथा देवियोंकी कामवासना परस्पर स्पर्श करनेसे ही शांत हो जाती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी कामपीड़ा स्वाभाविक सुंदर और शृंगारादियुक्त रूपको देखने मात्रसे ही दूर हो जाती है। शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंके देवदेवांगनाओंकी इच्छा परस्पर गीत व प्रेमभरे मधुर वचनालापादिकसे ही मिट जाती है। और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी कामवासना परस्पर मनमें स्मरण करनेसे ही नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ—(परे) सोलह स्वर्गोंसे (कल्प-विमानोंसे) परेके कल्पातीत अर्थात् अच्युत स्वर्गसे ऊपर नव ग्रैवेयकोंके तीन सौ नौ विमान और नौ अनुदिशविमान तथा पांच अनुत्तर विमान इन सबमें रहनेवाले देव (अप्रवीचाराः) कामसेवनरहित हैं। इनके कामवासना होती ही नहीं ॥ ९ ॥

अब पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए भवनवासियोंके दश भेद कहते हैं:—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ—(भवनवासिनः) भवनवासीदेव (असुरनागविद्युत्सु-

पर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः) असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार ऐसे दशप्रकारके हैं ॥ १० ॥

अब व्यंतरोंके आठ भेद कहते हैं:—

व्यंतराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ—(**व्यंतराः**) व्यंतरदेव (**किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः**) किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ऐसे आठ प्रकारके हैं ॥ ११ ॥

अब ज्योतिष्कदेवोंके पांच भेद कहते हैं:—

ज्योतिष्काःसूर्याचंद्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—(**ज्योतिष्काः**) ज्योतिष्कदेव (**सूर्याचंद्रमसौ**) सूर्य और चंद्रमा (**च**) तथा (**ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः**) ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, इस तरह पांचप्रकारके हैं ॥ १२ ॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थ—ये सब ज्योतिष्कदेव (**नृलोके**) मनुष्यलोकमें अर्थात् अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंमें (**मेरुप्रदक्षिणाः**) सुमेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए (**नित्यगतयः**) निरंतर गमन करनेवाले हैं ॥ १३ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थ—(**कालविभागः**) समयका विभाग अर्थात् घड़ी, पल,

---

१ श्लोकवार्तिकटीकामें युक्तिद्वारा सिद्ध किया है कि सूर्यादिक ही मेरुके आसपास प्रदक्षिणारूप भ्रमण करते है ।

दिन, रात्रिका व्यवहार (तत्कृतः) उन गमन करते हुए सूर्य चंद्रमा आदिद्वारा सूचित होता है ॥ १४ ॥

वहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—(वहिः) मनुष्य लोकके बाहर सूर्य चंद्रमादिक ज्योतिष्कदेव हैं, वे (अवस्थिताः) अवस्थित हैं अर्थात् गमन नहीं करते हैं—जहांके तहां स्थिर रहते हैं ॥ १५ ॥

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें रहनेसे जीव विशेष पुण्यवंत माने जावें, उन्हें **विमान** कहते हैं; और उन विमानोंमें जो रहते हैं, वे **वैमानिक** कहलाते हैं। सव विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस हैं और एक एक विमान संख्यात असंख्यात योजनोंके विस्तारमें हैं ॥ १६ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—उक्त वैमानिकदेव (**कल्पोपपन्नाः**) एक तो कल्पोपपन्न हैं (च) और दूसरे (**कल्पातीताः**) कल्पातीत हैं। **भावार्थ**—सौधर्मादि सोलह स्वर्गोंके विमानोंमें इंद्रादिक दशप्रकारके देवोंकी कल्पना होती है, इस कारण उन विमानोंकी **कल्प** संज्ञा है और जो कल्पोंमें

---

१ जंबूद्वीपमें दो सूर्य दो चंद्रमा है। लवण समुद्रमें चार सूर्य और चार चंद्रमा है। घातकीद्वीपमें वारह सूर्य और वारह चंद्रमा है। कालोदधिसमुद्रमें व्यालीस सूर्य और व्यालीस चंद्रमा हैं और पुष्करार्द्धमें वहत्तर सूर्य और वहत्तर चंद्रमा है। इस प्रकार अढ़ाईद्वीपमें पांच स्थानोंपर एकसौ वत्तीस चंद्रमा और इतनेही सूर्य हैं। ये सव ग्रह, नक्षत्र तारादिगणसहित मेरुके चारों तरफ फिरते हैं। अढ़ाईद्वीपसे बाहरके सूर्य चंद्रमादिके सव ज्योतिष्कविमान स्थिर हैं। २ सूत्र नं० ३ में कल्पोपपन्न वैमानिकदेवोंके जो वारह भेद वतलाये है, वे ये है;—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, सतार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

उत्पन्न हों उन्हें **कल्पोपपन्न** कहते हैं। जिन विमानोंमें इंद्रादिकोंकी कल्पना नहीं है, ऐसे ग्रैवेयकादिकोंको **कल्पातीत** कहते हैं ॥ १७ ॥

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—कल्पोंके जुगल तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे (उपरि उपरि) ऊपर ऊपर हैं ॥ १८

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु[1] ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ—वैमानिकदेव (**सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु**) सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेंद्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ, शुक्र, और महाशुक्र, सतार और सहस्रार, इन छह युगलोंमें अर्थात् बारह स्वर्गोंमें तथा (**आनतप्राणतयोः**) आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोंमें तथा (**आरणाच्युतयोः**) आरण और अच्युत नामके युगलमें तथा (**नवसु ग्रैवेयकेषु**) नव ग्रैवेयकोंके नव पटलोंमें तथा उनसे ऊपरके नव अनुदिशके एक पटलके विमानोंमें तथा उनके ऊपर (**विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु**) विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामके विमानोंमें (**च**) और (**सर्वार्थसिद्धौ**)

---

१ '**नव**' शब्दको समास नहीं करके जुदा विभक्तिवाला कहा है, इस कारण नव अनुदिशका भी सूत्रमें ग्रहण है।

सर्वार्थसिद्धिमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत संज्ञावाले देव रहते हैं ॥१९॥

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

अर्थ—स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधिविषयतः) आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, इंद्रियविषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब विषय ऊपर ऊपरके वैमानिकोंमें (**अधिकाः**) अधिक अधिक हैं ॥ २० ॥

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ—किन्तु (गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः) गमन[1], शरीरकी उच्चता, परिग्रह और अभिमान इन विषयोंमें ऊपर ऊपरके देव (**हीनाः**) हीन हैं ॥ २१ ॥

पीतपद्मशुक्कलेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—(द्वित्रिशेषेषु) दो युगलोंमें और शेषके समस्त विमानोंमें क्रमसे (**पीतपद्मशुक्कलेश्याः**) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं। अर्थात् सौधर्म, ऐशानमें पीतलेश्या, सानत्कुमार, माहेंद्रमें पीत पद्म दोनों; ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठमें पद्मलेश्या, शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें पद्म, शुक्ल दोनों और आनतादि शेष विमानोंमें शुक्ललेश्या है, परंतु अनुदिश और अनुत्तर इन चौदह विमानोंमें परम शुक्ललेश्या है ॥ २२ ॥

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

---

१ विषयोंकी उत्कट वांछाके नहीं होनेसे ऊपर ऊपरके देवोंमें गमन करनेकी इच्छा कम होती है, गमनशक्ति कम नहीं है।

अर्थ—(**ग्रैवेयकेभ्यः**) ग्रैवेयकोंसे (**प्राक्**) पहले पहलेके सोलह स्वर्ग (**कल्पाः**) कल्पसंज्ञावाले हैं। इनसे आगेके नव ग्रैवेयकादिक कल्पातीत विमान हैं। इसमें रहनेवाले **अहमिंद्र** कहलाते हैं अर्थात् वहांका प्रत्येक देव इंद्रके समान सुख भोगनेवाला होता है॥२३॥

ब्रह्मलोकालया लौकांतिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(**ब्रह्मलोकालयाः**) जिनका ब्रह्मलोक आलय है अर्थात् जो पांचवें ब्रह्मस्वर्गके अंतमें रहते हैं, वे (**लौकांतिकाः**) लौकांतिकदेव हैं। ये लौकांतिकदेव एकभवावतारी होते हैं अर्थात् मनुष्यका एक भव धारण करके ही मोक्षको चले जाते हैं। इस कारण जिनके लोक अर्थात् संसारका अंत होनेवाला है उन्हें, लौकांतिकदेव कहते हैं। ये विषयोंसे विरक्त, ब्रह्मचारी, द्वादशांगके पाठी और अत्यंत उदासीन होते हैं। तीर्थंकर भगवान्के तपकल्याणके आदिमें ही ये देव आते हैं। तपके सिवाय भगवान्के अन्य उत्सवोंमें ये नहीं आते ॥ २४ ॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकारके लौकांतिकदेव होते हैं। ये ब्रह्मस्वर्गकी आठों दिशाओंमें रहते हैं ॥ २५ ॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थ—(**विजयादिषु**) विजयादिक चार विमानोंके देव (**द्विचरमाः**) द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म लेकर मोक्षगामी होते हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव एकभवावतारी होते हैं ॥ २६ ॥

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थ—(औपपादिकमनुष्येभ्यः) देव, नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त (शेषाः) शेष सब जीव (तिर्यग्योनयः) तिर्यंच हैं। विशेष—इन तिर्यंचोंमेंसे जो सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव हैं, वे समस्त लोकमें व्याप्त हैं—लोकका कोई भी प्रदेश उनसे खाली नहीं है। और बादर स्थूल एकेंद्रिय जीव पृथिवी जलादिकके आधार हैं। रहे विकलत्रय (द्वींद्रिय, त्रींद्रिय और चतुरिंद्रिय) और पंचेंद्रिय तिर्यंच सो त्रसनालीमें रहते हैं ॥ २७ ॥

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—(असुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां) असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष छह कुमारोंकी (स्थितिः) आयु (सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः) क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्यकी है। अर्थात् असुरकुमारोंकी अढ़ाई पल्य है, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य है और शेष रहे जो छह कुमार उनकी डेढ़ डेढ़ पल्यकी है। इस प्रकार भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु हैं ॥ २८ ॥

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

अर्थ—(सौधर्मैशानयोः) सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु (सागरोपमे अधिके) दो सागरसे कुछ अधिक है २९

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ—(सानत्कुमारमाहेंद्रयोः) सानत्कुमार और माहेंद्र इन दोनों स्वर्गके देवोंकी आयु (सप्त) कुछ अधिक सात सागरकी है ॥ ३० ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥

अर्थ—(**त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिः**) सात सागरसे तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर (**तु अधिकानि**) अधिक आयु क्रमसे अगले छह जुगलोंमें है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें दश सागरसे कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ठमें चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्रमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रारमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणतमें वीस सागरकी और आरण तथा अच्युतमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सूत्रमें 'तु' शब्द होनेसे सहस्रार पर्यंतके देवोंकी आयु कुछ अधिक कही गई है। आगे अधिक नहीं है—पूरे पूरे सागरोंके परिमाण ही है ॥ ३१ ॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थ—(**आरणाच्युतात्**) आरण और अच्युत युगलसे (**ऊर्ध्वम्**) ऊपर (**नवसु ग्रैवेयकेषु**) नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, (**विजयादिषु**) विजयादिक चार विमानोंमें (**च**) और (**सर्वार्थसिद्धौ**) सर्वार्थसिद्धि विमानमें (**एकैकेन**) एक एक सागर बढ़ती आयु है। अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकमें तेइस सागर, दूसरेमें चौबीस सागर, तीसरेमें पचीस सागर, चौथमें छब्बीस सागर, पांचवेंमें सत्ताईस सागर, छट्ठेमें अट्ठाईस सागर, सातवेंमें उनतीस सागर, आठवेंमें तीस सागर, नववेंमें इकतीस सागर, नव अनुदिशोंमें बत्तीस सागर और

---

१ '**सर्वार्थसिद्धि**' शब्द जुदा कहनेका तात्पर्य यह है कि उसमें उत्कृष्ट ही आयु है, जघन्यादिका भेद नहीं है।

विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांचों विमानोंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ३२ ॥

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—(अपरा) जघन्य आयु अर्थात् कमसे कम आयु सौधर्म और ईशान स्वर्गमें (पल्योपमम् अधिकम्) एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थ—(पूर्वा पूर्वा) पहले पहले युगलकी उत्कृष्ट आयु (परतः परतः) अगले अगले युगलोंमें (अनंतरा) जघन्य है । भावार्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें कुछ अधिक दो सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही सानत्कुमार और माहेंद्रमें जघन्य आयु है और सानत्कुमार और माहेंद्रकी कुछ अधिक सात सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही अगले ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर युगलमें जघन्य है । इसी प्रकार अगले समस्त विमानोंमें समझना चाहिए । सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती है ॥ ३४ ॥

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ—(च) और इसी प्रकार (द्वितीयादिषु) दूसरे, तीसरे आदि नरकोंमें भी (नारकाणां) नारकी जीवोंकी जघन्य आयु है । अर्थात् रत्नप्रभा पृथिवीमें नारकी जीवोंकी एक सागरकी जो उत्कृष्ट आयु है, वही दूसरे नरकमें जघन्य है और दूसरेकी उत्कृष्ट आयु तीसरेमें जघन्य है । इसी प्रकार सातों नरकोंमें जानना ॥ ३५ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—(प्रथमायां) प्रथम नरकमें सीमन्तक नाम पहले पटलके

नारकी जीवोंकी जघन्य आयु (दशवर्षसहस्राणि) दश हजार वर्षकी है ॥ ३६ ॥

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थ—(भवनेषु) भवनवासियोंमें (च) भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है ॥ ३७ ॥

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थ—(व्यंतराणां) व्यंतरदेवोंकी (च) भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है ॥ ३८ ॥

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—व्यंतरोंकी (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपमम् अधिकम्) एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थ—(ज्योतिष्काणां) ज्योतिष्कदेवोंकी (च) भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी है ॥ ४० ॥

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थ—ज्योतिष्कदेवोंकी (अपरा) जघन्य आयु (तदष्टभागः) उस एक पल्यके आठवें भागके बराबर है ॥ ४१ ॥

लौकांतिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ—ब्रह्मस्वर्गके अंतमें रहनेवाले (सर्वेषाम्) समस्त (लौकांतिकानाम्) लौकांतिकदेवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पंचम अध्याय ।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ—(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य (अजीवकायाः) अजीवकाय अर्थात् अचेतन और बहुप्रदेशी पदार्थ हैं ॥ १ ॥

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त चारों पदार्थ द्रव्य हैं अर्थात् षट् द्रव्योंमेंसे ये चार द्रव्य हैं। तीन कालमें जो अपने गुणपर्यायोंको द्रवे अर्थात् प्राप्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं ॥ २ ॥

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—(जीवाः) जीव (च) भी द्रव्य हैं। अर्थात् जीव भी अपने गुण और पर्यायों सहित हैं, इस कारण इनकी भी द्रव्य-संज्ञा है ॥ ३ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ—इस अध्यायके ३९ वें सूत्रमें कहे हुए कालद्रव्यसहित ये जीव, अजीव, आकाश, धर्म, और अधर्मद्रव्य (नित्यावस्थितानि) नित्य हैं अर्थात् ये कभी नष्ट नहीं होते हैं और अवस्थित हैं अर्थात् संख्यामें घटते-बढ़ते नहीं हैं। सारांश यह कि द्रव्य छह हैं सो कभी सात अथवा पांच नहीं होते हैं। तथा ये सब (अरूपाणि) रूप-रहित-अरूपी हैं ॥ ४ ॥

---

१ 'अजीवाश्च ते कायाः' इति कर्मधारयसमासः ।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थ—किन्तु (पुद्गलाः) पुद्गलद्रव्य (रूपिणः) रूपी है। यद्यपि रूपी शब्दके अनेक अर्थ हैं, परंतु यहां परमागमके अनुसार 'मूर्तीक' अर्थ ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ—(आ आकाशात्) आकाश पर्यंत (एकद्रव्याणि) एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये एक एक हैं। जब ये तीनों एक हैं, तो जीव, पुद्गल और काल इन तीनों द्रव्योंमें विना कहे भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। सो आगमानुसार जीवद्रव्य अनंतानंत है। पुद्गलपरमाणु, जीवोंसे अनंतगुणे हैं और कालद्रव्यके अणु असंख्यात हैं ॥ ६ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थ—(च) और ये धर्म, अधर्म और आकाश तीनों ही द्रव्य (निष्क्रियाणि) चलनरूप क्रियासे रहित हैं। वाह्याभ्यंतर कारणसे एक क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र जानेको क्रिया कहते हैं। सो ये तीनों द्रव्य लोकाकाशमें व्याप्त हैं, अनादि कालसे यहीं हैं यहीं रहेंगे और क्रियारहित हैं ॥ ७ ॥

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके (असंख्येयाः प्रदेशाः) असंख्यात २ प्रदेश हैं। जितने क्षेत्रको एक अविभागी (जिससे छोटा और भाग नहीं हो सके) पुद्गलपरमाणु रोकता है, उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं ॥ ८ ॥

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥

अर्थ—(आकाशस्य) आकाशके (अनंताः) अनंत प्रदेश हैं। किन्तु लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं ॥ ९ ॥

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—(पुद्गलानाम्) पुद्गलोंके (संख्येयासंख्येयाः) संख्यात असंख्यात (च) और अनंत प्रदेश हैं। यद्यपि एक शुद्ध पुद्गलपरमाणु एक ही प्रदेशवाला है परन्तु पुद्गलपरमाणुओंमें मिलन-विछुरन शक्ति है। इस कारण अनेक स्कंध दो दो परमाणुओंके और अनेक तीन तीन, चार चार परमाणुओंके हैं। इसी प्रकार संख्यात परमाणुओंके तथा असंख्यात और अनंत परमाणुओंके भी स्कंध हैं।

यहां यदि कोई प्रश्न करे कि लोकाकाश तो असंख्यप्रदेशी है और पुद्गलके अनंतानंत परमाणु हैं तथा स्कंध अनंत परमाणुओंके हैं, फिर वे लोकाकाशमें कैसे समाते होंगे ? तो इसका समाधान यह है कि पुद्गलोंके परिणमन दो प्रकारके हैं;—एक सूक्ष्मपरिणमन और दूसरा स्थूलपरिणमन। सो जब इनका सूक्ष्मपरिणमन होता है, तब आकाशके एक ही प्रदेशमें अनंत परमाणु आ सकते हैं। इसके सिवाय आकाशमें अवकाशदान शक्ति भी है, इस कारण यह दोप नहीं आता है ॥१०॥

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ—(अणोः) अणु अर्थात् पुद्गलके परमाणुके (न) प्रदेश नहीं है, अर्थात् परमाणुके एक प्रदेशमात्रता कही है। क्योंकि परमाणुके खंड (टुकड़े) नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन समस्त धर्मादि द्रव्योंका (लोकाकाशे) लोकाकाशमें (अवगाहः) अवगाह अर्थात् स्थिति है । लोकाकाशसे बाहर अलोकाकाशमें अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है । जहां तक पांच द्रव्य हैं, वहीं तकके आकाशको लोकाकाश कहते हैं ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—(धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह (कृत्स्ने) समस्त लोकाकाशमें है । अर्थात् जैसे तिलोंमें सर्वत्र तैल व्याप्त है, उसी प्रकार लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश व्याप्त हैं ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ—(एकप्रदेशादिषु) लोकके एक प्रदेशादिक भागोंमें (पुद्गलानां) पुद्गलद्रव्योंका अर्थात् एक परमाणु दो परमाणु, संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओंका अवगाह (भाज्यः) विकल्प करना चाहिये । अर्थात् उक्त पुद्गलोंका अवगाह एक, दो आदि प्रदेशोंमें जानना चाहिये ॥ १४ ॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(असंख्येयभागादिषु) लोकके असंख्यातवें भागादिमें (जीवानां) जीवोंका अवगाह है ॥ १५ ॥

यहां जो जीव एक छोटेसे शरीरमें होता है, वही बड़े शरीरमें कैसे व्याप्त हो जाता है ? ऐसा प्रश्न होता है । इसलिये उत्तरमें कहते हैं कि;—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—एक : जीवके प्रदेश लोकाकाशके समान हैं; तथापि वे (प्रदीपवत्) दीपककी रोशनीके समान (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्) प्रदेशोंमें संकोचता विस्तारताके होनेसे जैसा आधार (आश्रय) शरीर हो, वैसे ही संकोचविस्ताररूप प्रदेशवाले हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अब प्रत्येक द्रव्यका उपकार कहते हैं:—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अर्थ—जीवों और पुद्गलोंको (गतिस्थित्युपग्रहौ) गमनरूप और स्थितिरूप करना (धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका (उपकारः) उपकार है। भावार्थ—जीव और पुद्गलोंके चलनेमें तो धर्मद्रव्य सहकारी है और स्थिति करनेमें अधर्मद्रव्य उपकारी (सहायक) है-प्रेरक नहीं है ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—समस्त द्रव्योंको अर्थात् जीवादि पांचों द्रव्योंको (अवगाहः) अवकाश देना अर्थात् जगह देना (आकाशस्य) आकाशद्रव्यका उपकार है ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—(शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः) शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास आदि बनना (पुद्गलानां) पुद्गलोंका उपकार है। भावार्थ—आहारवर्गणा आदि पांच तरहके पुद्गलसमूहोंसे शरीर आदि बनते हैं ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ—(च) तथा (सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाः) सुख,

दुःख, जीना और मरना ये उपकार[1] भी पुद्गलोंके हैं। क्योंकि सुख, दुःख, जीना और मरना भी कर्मरूप पुद्गलोंके कारणसे होता है ॥ २०

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—(**जीवानाम्**) जीवोंका (**परस्परोपग्रहः**) परस्पर उपकार है। अर्थात् जीव कारणवशसे एक दूसरेका सुख-दुःख, जीवन-मरण, सेवा-शुश्रूषा आदिसे उपकार करते हैं ॥ २१ ॥

वर्त्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य २२

अर्थ—(**च**) और (**कालस्य**) कालके (**वर्त्तनापरिणाम-क्रियाः**) वर्त्तना, परिणाम, क्रिया तथा (**परत्वापरत्वे**) परत्व और अपरत्व ये पांच उपकार हैं। जो दूसरेको वर्त्तावे, उसको वर्त्तना कहते हैं। **भावार्थ**—यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी पर्यायपूरणार्थ स्वयं वर्त्तनरूप होते हैं, तथापि उनके वर्त्तनमें जो बाह्य कारण है—जो उनको वर्त्तनारूप करता है, उसको **वर्त्तना** कहते हैं। द्रव्यका ऐसा पर्याय जो कि एक धर्मका निवृत्तिरूप और दूसरे धर्मका जननरूप हो, उसको **परिणाम** कहते हैं। जैसे—आत्माके क्रोधादिक और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं। जो हलनचलनादि रूप हो, वह **क्रिया** है। एक देशसे दूसरे देश तक जानेको भी **क्रिया** कहते हैं। जैसे—गाड़ीका चलना, मर्षोंका चलना और बड़ा छोटा इस व्यवहारको **परत्वापरत्व** कहते हैं। जैसे—यह युवा पंद्रह वर्षका है और यह बीस वर्षका है, ऐसा जो व्यवहार है, सो परत्वापरत्व है। ये सब वर्त्तनादिक कालके निमित्तसे होते हैं और इन्हींसे कालका अस्तित्व सिद्ध होता ॥ २२ ॥

---

१ 'उपकार'—नाम निमित्तकारणका है। जैसे विष आदि अनिष्ट पुद्गल पदार्थ जीवको दुःख और मरणके निमित्तकारण है।

स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थ—(**स्पर्शरसगंधवर्णवंतः**) स्पर्शरसगंधवर्णवाले (**पुद्गलाः**) पुद्गलद्रव्य हैं। कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, सचिक्कण और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला और चिरपिरा (तिक्त) ये पांच रस हैं। सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत ये पांच वर्ण (रंग) हैं ॥२३॥

शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छाया-तपोद्योतवंतश्च ॥ २४ ॥

अर्थ—(च) तथा ये पुद्गल शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। भावार्थ—शब्दादिक भी पुद्गलोंकी एक प्रकाराकी अवस्थाएँ हैं। शब्दादिकोंको जो अन्यवादी अन्यरूप मानते हैं, इस सूत्रसे उनका खंडन होता है ॥ २४

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—(च) तथा पुद्गलद्रव्य (**अणवः**) अणु और (**स्कंधाः**) स्कंध इस प्रकार दो भेदरूप भी है। दोसे लेकर संख्यात तथा असंख्यात वा अनंतपरमाणुओं तकके पिंडको स्कंध कहते हैं ॥ २५ ॥

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते ॥ २६ ॥

अर्थ—पुद्गलोंके स्कंध (**भेदसंघातेभ्यः**) भेद और संघातसे अर्थात् वाह्य वा आभ्यंतरिक निमित्तके टूटने वा जुड़नेसे (**उत्पद्यते**) उत्पन्न होते हैं। 'भेदसंघातेभ्यः' यहां वहुवचन देनेसे भेद और संघात दोनोंहीसे स्कंध होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। दो आदिके संघातसे वा मिलनेसे भी नाना स्कंध होते हैं। और बड़े स्कंधोंके

टूटनेसे भी दो परमाणुओंतकके अनेक स्कंध होते हैं। तथा इसी प्रकार कितने ही स्कंधोंका भेद होनेसे और उसी समयमें कितने ही स्कंधोंके मिलनेसे भी स्कंध होते हैं ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थ—(अणुः) अणु (भेदात्) भेदसे ही होता है, संघातसे नहीं होता ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ—(चाक्षुषः) जो नेत्रेंद्रियगोचर स्कंध होता है, वह (भेदसंघाताभ्यां) भेद और संघात दोनोंसे ही होता है। भावार्थ—जिन स्कंधोंका ज्ञान इंद्रियोंसे हो सकता है, व भेद और संघात दोनोंसे होते हैं ॥ २८ ॥

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थ—(द्रव्यलक्षणम्) द्रव्यका लक्षण (सत्) सत् है। अर्थात् जो सत्रूप है, वही द्रव्य है ॥ २९ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं) उत्पत्ति, विनाश और मौजूदगी सहित है, वही (सत्) सत् है। बाह्याभ्यंतर निमित्तके वशसे अपनी जातिको न छोड़कर चेतन वा अचेतन द्रव्यका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप होना उत्पत्ति वा उत्पाद है। जैसे—सोनेसे कुंडलोंका कड़ेरूप होना उत्पाद है और कुंडलरूप अवस्थाका नष्ट होना विनाश वा व्यय है। और पीलापन, भारीपन

१ यह सूत्र नियमार्थ है। पहलेके 'विधिसूत्र' से अर्थ सिद्ध होनेपर भी फिरसे जो 'विधिसूत्र' कहा जाता है, वह 'नियमसूत्र' होता है।

आदि अपनी जातिको लिए हुए दोनों अवस्थाओंमें मौजूद रहना ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म एक साथ निरंतर रहते हैं। जिसमें ये तीनों धर्म रहते हैं, वही सत् और वही द्रव्य है ॥ ३० ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(**तद्भावाव्ययं**) जो तद्भावरूपसे अव्यय है सो ही (**नित्यम्**) नित्य है। **भावार्थ**—जो पहले समयमें था वही दूसरे समयमें हो, उसे **तद्भाव** कहते हैं और जो तद्भावसे अव्यय (विनाशरहित) हो उसको **नित्य** जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि पदार्थके भाव या गुणके नाश नहीं होनेको नित्य कहते हैं। अग्निके उष्णता गुणका बना रहना अग्निका नित्यत्व है। सर्वथा नित्यत्व अर्थात् कूटस्थता कोई वस्तु नहीं है। सत्ताकी वा द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्यत्व है; पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व है ॥ ३१ ॥

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिसको मुख्य करे सो अर्पित और जिसको गौण करे सो अनर्पित है। इन दोनों नयोंसे वस्तुकी सिद्धि होती है। **भावार्थ**—वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं। उनमेंसे वक्ता जिस धर्मको प्रयोजनके वशसे प्रधान करके कहे, वह **अर्पित** है। और प्रयोजनके विना जिस धर्मको कहनेकी इच्छा नहीं करे, वह **अनर्पित** है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जो धर्म कहा नहीं गया, वह वस्तुमें है ही नहीं। नहीं, वह जरूर है। परंतु उस समय उसके कहनेकी मुख्यता नहीं है। क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक ही पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, मामा, भानजा, ससुर, जामाता आदि जो अनेक

सँबंध विद्यमान हैं, वे सब अपेक्षासे ही सिद्ध होते हैं। कोई कहे यह मामा ही है, सो नहीं है। भानजेकी अपेक्षा मामा है, किंतु भानजेके पिताका वह साला है और भानजेकी माताका भाई भी है। जिस समय मामा कहा जाता है, उस समय सालापन वा भाईपन गौण वा अनर्पित होता है। इसी प्रकार वस्तुमें भी अनेक धर्म भिन्न अपेक्षासे सिद्ध होते हैं॥ ३२॥

स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः॥ ३३॥

अर्थ—दो आदि परमाणुओंके स्कंधोंका (**बंधः**) बंध (**स्निग्धरूक्षत्वात्**) स्निग्धत्वसे अर्थात् चिकनाईसे और रूक्षत्वसे अर्थात् रूखेपनसे होता है॥ ३३॥

न जघन्यगुणानाम्॥ ३४।

अर्थ—(**जघन्यगुणानां**) जघन्यगुणसहित परमाणुओंमें बंध (**न**) नहीं होता है। परमाणुओंमें स्निग्धता वा रूक्षताके अविभागप्रतिच्छेदको गुण कहते हैं। जिस परमाणुमें स्निग्धताका वा रूक्षताका एक अविभागप्रतिच्छेद रह जाय, वह **जघन्यगुणवाला** है। यहां एक अविभागी प्रतिच्छेदको जघन्य कहा है। जिसमें एक गुण स्निग्धरूक्षताका हो, वह परमाणु द्वितीयादि संख्यात, असंख्यात, अनंतगुण सहित स्निग्ध परमाणु वा रूक्ष परमाणुके साथ बंधको प्राप्त नहीं होगा॥ ३४॥

गुणसाम्ये सदृशानाम्॥ ३५॥

अर्थ—(**सदृशानां**) सदृशोंका (**गुणसाम्ये**) गुणकी समानता होनेपर बंध नहीं होता। **भावार्थ**—पहले कह चुके हैं कि स्निग्ध और रूक्षोंका बंध होता है और अब निषेधप्रकरणमें

सदृशोंका अर्थात् स्निग्धका स्निग्धके साथका भी ग्रहण किया है। इससे विदित होता है कि सदृशोंका भी बंध होता है। इसीलिए निषेध किया है। तथा दो गुण स्निग्धोंका दो गुण रूक्षोंके साथ बंध नहीं होगा। इसी तरह और भी जानना ॥ ३५ ॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थ—(द्व्यधिकादिगुणानां तु) किंतु दो अधिक गुण- वालोंका ही बंध होता है। अर्थात् बंध तब ही होता, जब कि एकसे दूसरेमें दो गुण (अविभागप्रतिच्छेद) अधिक हों। जैसे— चार स्निग्धगुणके साथ पांच, सात आदिक स्निग्ध वा रूक्ष गुण- वालेका बन्ध नहीं होगा। किंतु चारके साथ छह स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेके साथ ही बंध होगा। इसी प्रकार सात रूक्ष गुणवालेका बंध आठ, दश, बारह आदि गुणवालेके साथ न होकर नौ स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेके साथ ही होगा। इसी प्रकार समस्त बंधोंमें दो दो गुण अधिकवालेका ही बंध होता है ॥ ३६ ॥

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थ—(च) और (बंधे) बंध अवस्थामें (**अधिकौ**) अधि- कगुणसहित पुद्गल अल्पगुणसहितको (**पारिणामिकौ**) परिणमावने- वाले होते हैं। अर्थात् अल्प गुणके धारक स्कंध अधिक गुणके स्कंध- रूप हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(**गुणपर्ययवत्**) गुणपर्यायवाला (**द्रव्यम्**) द्रव्य होता **है**। द्रव्यकी अनेक परिणति होनेपर भी जो द्रव्यसे भिन्न न हो,

द्रव्यके साथ नित्य रहे, वह तो **गुण** है। और जो क्रमवर्ती हो, पलटनरूप हो, सो **पर्याय** है। द्रव्यके जितने गुण हैं, वे द्रव्यसे कभी भिन्न नहीं होते। समस्त गुणोंका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यकी अनेक पर्यायें (अवस्थाएँ) पलटते हुए भी गुण कदापि नहीं पलटते। द्रव्यके नित्य साथ रहते हैं। इसी कारण गुणोंको **अन्वयी** कहते हैं ॥ ३८ ॥

कालश्च ॥ ३९ ॥

—(**कालः च**) काल भी द्रव्य है। कालद्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक एक अणुरूप भिन्न भिन्न रहता है। पुद्गल-परमाणुकी अवगाहनाके बराबरही इसकी अवगाहना है। यह अमूर्त्तीक है। लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिके समान भिन्न भिन्न तथा निष्क्रिय हैं। उत्पादव्ययध्रौव्य तथा गुणपर्याय-सहित होनेसे यह भी द्रव्य है। इसीको निश्चयकालद्रव्य कहते हैं ॥३९॥

सोऽनंतसमयः ॥ ४० ॥

अर्थ—(**सः**) वह कालद्रव्य (**अनंतसमयः**) अनंतसमय-वाला है। यद्यपि वर्त्तमानकाल एक समय मात्र है; परंतु भूत, भवि-ष्यत् और वर्तमानकी अपेक्षा अनंतसमयवाला है। समय कालकी पर्या-यका सबसे छोटा अंश है। इसके समूहसे आवली, घटिका इत्यादि व्यव-हारकाल होते हैं। यह व्यवहारकाल निश्चयकालद्रव्यकी पर्याय है ॥४०॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—(**द्रव्याश्रयाः**) जो द्रव्यके नित्य आश्रय हों अर्थात् विना द्रव्यके आश्रयके स्वतंत्र नहीं रह सकते हों, तथा (**निर्गुणाः**)

स्वयं अन्य गुणोंसे रहित हों, वे (गुणाः) गुण हैं। जैसे—जीवमें अस्तित्व, ज्ञान आदि गुण हैं और पुद्गलमें अचेतनत्व, रूप आदि हैं ॥ ४१ ॥

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ—(तद्भावः) धर्मादिक द्रव्योंके, वे जिस रूप हैं उसी रूप होनेको (परिणामः)-परिणाम वा पर्याय कहते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

अर्थ—(कायवाङ्मनःकर्म) काय, वचन और मनकी क्रियाको (योगः) योग कहते हैं। अर्थात् शरीर, वचन और मनकेद्वारा आत्माके प्रदेशोंका जो संकप होना सो **योग** है। योग तीन प्रकारका है;—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होनेपर औदारिकादि सातप्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी वर्गणाके कारण आत्माके प्रदेशोंका जो सकंप (चलनरूप) होना सो **काययोग** है। वीर्यांतराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई वाग्लब्धिकी निकटतासे वचनरूप परिणमनके सम्मुख हुए आत्माके प्रदेशोंका जो हलन चलनरूप होना सो **वाग्योग** (वचनयोग) है। और अभ्यंतरमें वीर्यांतराय तथा नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिकी निकटतासे और बाह्यमें पूर्वोक्त निमित्तके अवलम्बनसे मनः-

परिणामके सम्मुख आत्माके प्रदेशोंका जो सकंप होना सो **मनोयोग** है। **भावार्थ**—कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चलनरूप होना **काय-योग** है, वचनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका चलना **वाग्योग** है और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका चलना **मनोयोग** है ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ—(**सः**) वह योग ही (**आस्रवः**) कर्मोंके आगमनका द्वाररूप आस्रव है। जिस प्रकार सरोवरमें जल आनेके द्वार (नाले) जल आनेके लिए कारण होते हैं, उसी प्रकार आत्माके भी मनोवचन-कायरूप योगोंके द्वारा जो शुभ अशुभ कर्म आते हैं उनके आनेमें योग कारण है। यहां कारणमें कार्यकी सम्भावना करके योगोंको ही आस्रव कहा है ॥ २ ॥

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—(**शुभः**) शुभ परिणामोंसे पैदा हुआ योग (**पुण्यस्य**) पुण्य प्रकृतियोंके आस्रवका कारण है और (**अशुभः**) अशुभ परि-णामोंसे उत्पन्न हुआ योग (**पापस्य**) पापरूप कर्मोंके आस्रवका कारण है। जीवोंका घात करना, असत्य बोलना, पराया धन हरण करना, ईर्षाभावरखना इत्यादि अशुभयोग हैं। इनसे पापरूप कर्मोंका ही आस्रव (आगमन) होता है। और जीवोंकी रक्षा करना, उपकार करना, सत्य बोलना, पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करना आदि शुभयोग हैं। इनसे पुण्यरूप कर्मोंका आस्रव होता है ॥ ३ ॥

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ—(**सकषायाकषाययोः**) कषायसहित और कषायरहित

जीवोंके क्रमसे (**सांपरायिकेर्यापथयोः**) सांपरायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव होता है। अर्थात् कपायसहित जीवोंके सांपरायिक आस्रव होता है और कपायरहित जीवोंके ईर्यापथ नामका आस्रव होता है। जो आत्माको 'कषन्ति' अर्थात् कषते हैं, वा घातते हैं, वे क्रोधादिक कपाय कहलाते हैं। संसारके कारणरूप आस्रवोंको **सांपरायिक आस्रव** कहते हैं। और स्थितिरहित कर्मोंके आस्रव होनेको **ईर्यापथ**[1] आस्रव कहते हैं ॥ ४ ॥

इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थ--(**इन्द्रियकपायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः**) पांच इन्द्रिय, चार कपाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रिया ये सब (**पूर्वस्य**) पहले सांपरायिक आस्रवके (**भेदाः**) भेद हैं। इनमेंसे पांच इन्द्रियें तो पहले कही जा चुकी हैं। और क्रोधादिक कपाय तथा हिंसादिक पांच अव्रत आगे कहेंगे। यहां पच्चीस क्रिया कहते हैं:-

देव, गुरु और शास्त्रकी पूजा, भक्ति करना **सम्यक्त्वक्रिया** है ॥ १ ॥ अन्य कुदेव, कुगुरु और कुश्रुतकी स्तुति आदि करना **मिथ्यात्वक्रिया** है ॥ २ ॥ कायादिकसे गमनागमनादिरूप प्रवर्त्तना **प्रयोगक्रिया** है ॥ ३ ॥ संयमीका अविरतिके सम्मुख होना **समादानक्रिया** है ॥ ४ ॥ ईर्यापथ अर्थात् गमनके लिए जो क्रिया करना सो **ईर्यापथक्रिया** है ॥ ५ ॥ क्रोधके आवेशसे जो क्रिया करना सो **प्रादोषिकीक्रिया** है ॥ ६ ॥ दुष्टताके लिए उद्यम करना **कायि-**

---

१ उपशान्तकपाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली गुणस्थानवालोंके ईर्यापथ आस्रव होता है, क्योंकि वहां कषायका उदय नहीं रहता है।

कीक्रिया है ॥ ७ ॥ हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका ग्रहण करना आधिकरणिकीक्रिया है ॥ ८ ॥ अपने वा परके दुःखोत्पत्तिके कारण मिलाना पारितापिकीक्रिया है ॥ ९ ॥ आयु, इन्द्रिय, बल, प्राणोंका वियोग करना प्राणातिपातिकीक्रिया है ॥ १० ॥ रागाधिकताके कारण प्रमादी होकर रमणीय रूपका अवलोकन करना दर्शनक्रिया है ॥ ११ ॥ प्रमादके कारण वस्तुके स्पर्शनार्थ प्रवर्त्तना स्पर्शनक्रिया है ॥ १२ ॥ विषयोंके नये नये कारण मिलाना प्रात्ययिकीक्रिया है ॥ १३ ॥ स्त्री-पुरुषों वा पशुओंके बैठने, सोने या प्रवर्त्तनेके स्थानमें मलमूत्रादि क्षेपण करना समंतानुपातक्रिया है ॥ १४ ॥ विना देखी शोधी भूमिपर बैठना, शयन करना आदि अनाभोगक्रिया है ॥ १५ ॥ परके करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्तक्रिया है ॥ १६ ॥ पापोत्पादक प्रवृत्तिको भला समझना वा आज्ञा करना निसर्गक्रिया है ॥ १७ ॥ आलस्यसे प्रशस्तक्रिया न करना अथवा अन्यके किए हुए पापाचरणका प्रकाश करना विदारणक्रिया है ॥ १८ ॥ चारित्रमोहके उदयसे परमागमकी आज्ञानुसार प्रवर्तनेमें असमर्थ होकर अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञाव्यापादिकीक्रिया है ॥ १९ ॥ प्रमादसे वा अज्ञानतासे परमागमकी उपदेश की हुई विधिमें अनादर करना अनाकांक्षाक्रिया है ॥ २० ॥ छेदने, भेदने, छीलने आदिकी क्रियामें तत्परता होना तथा अन्यके आरम्भ करनेमें हर्ष मानना प्रारम्भक्रिया है ॥ २१ ॥ परिग्रहकी रक्षाके लिए प्रवृत्ति करना पारिग्रहिकीक्रिया है ॥ २२ ॥ ज्ञानदर्शनादिकमें कपटरूप उपाय करना मायाक्रिया है ॥ २३ ॥ कोई मिथ्यात्वका कार्य करना वा करनेवालेको उस कार्यमें दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शनक्रिया है ॥ २४ ॥ संयमको घात करनेवाले

कर्मके उदयसे संयमरूप नहीं प्रवर्त्तना अप्रत्याख्यानक्रिया है ॥२५॥ ये पचीसों क्रियाएं सांपरायिक आस्रवकी कारण हैं ॥ ५ ॥

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थ—(तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यः) तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषतासे (तद्विशेषः) उस आस्रवमें विशेषता (न्यूनाधिकता) होती है। बाह्याभ्यंतर कारणोंसे बढ़े हुए क्रोधादिकसे जो तीव्रतारूप परिणाम होते हैं, उन्हें तीव्रभाव कहते हैं। कषायोंकी मंदतासे जो मंदतारूप भाव होते हैं उन्हें मंदभाव कहते हैं। जीवोंके घातमें ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होनेको ज्ञातभाव कहते हैं। मद्यपानादिकसे अथवा इंद्रियोंको मोहित करनेवाले मदसे असावधानतासे गमनादिकमें प्रवृत्ति करनेको अज्ञातभाव कहते हैं। जिसके आधार पुरुषोंका प्रयोजन हो, उसको अधिकरण कहते हैं। और द्रव्यकी शक्तिके विशेषपनेको वीर्य कहते हैं। इन सबकी न्यूनाधिकतासे आस्रवोंमें विशेषता होती है ॥ ६ ॥

अधिकरणोंको स्पष्ट करनेकेलिए सूत्र कहते हैं;—

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(अधिकरणं) आस्रवका आधार (जीवाजीवाः) जीव और अजीव दोनों हैं ॥ ७ ॥

अब जीवाधिकरणके भेद कहते हैं;—

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थ—(आद्यं) आदिका जीवाधिकरण जो है सो (**संरंभ-समारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैः**) संरंभ समारंभ आरंभ, मनोयोग वचनयोग काययोग, कृत कारित अनुमोदना और क्रोध मान माया लोभ रूप कषायोंके विशेषसे (**एकशः**) एक एकके (**त्रिः त्रिः त्रिः चतुः**) तीन, तीन, तीन और चार भेद होनेसे एक सौ आठ प्रकारका है। अर्थात् संरंभ, समारंभ और आरंभ इन तीनोंका मन, वचन और काय रूप तीनों योगोंसे गुणनेसे नौ तथा कृत, कारित और अनुमोदना इन तीनोंसे गुणनेसे सत्ताईस और क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे एक सौ आठ भेद होते हैं। हिंसादिक करनेके उद्यमरूप परिणाम करना **संरंभ** है। हिंसादिकके साधनोंका अभ्यास करना, उनकी सामग्री मिलाना **समारंभ** है। और हिंसादिकमें प्रवृत्त हो जाना **आरंभ** है। स्वयं करे सो **कृत** है। दूसरेसे करावे सो **कारित** है। और दूसरेके किये कार्यकी प्रशंसा करे सो **अनुमत** वा **अनुमोदना** है। जैसे—१ क्रोधकृतकायसंरंभ, २ मानकृतकायसंरंभ, ३ मायाकृत-कायसंरंभ, ४ लोभकृतकायसंरंभ, ५ क्रोधकारितकायसंरंभ, ६ मान-कारितकायसंरंभ, ७ मायाकारितकायसंरंभ, ८ लोभकारितकायसंरंभ, ९ क्रोधानुमतकायसंरंभ, १० मानानुमतकायसंरंभ, ११ मायानुमत-कायसंरंभ और १२ लोभानुमतकायसंरंभ, इस प्रकार बारह भेद **कायसंरंभ**के हुए। इसीप्रकार बारह भेद **वचनसंरंभ**के और बारह भेद **मनःसंरंभ**के मिलानेपर संरंभके छत्तीस भेद हुए। उनमें छत्तीस भेद समारंभके और छत्तीस आरंभके मिलानेसे सब एक

सौ आठ भेद होते हैं। सूत्रमें जो 'च' शब्द है, वह अंतरंग भेदोंके संग्रहार्थ है। प्रत्येक कपायके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार चार भेद हैं। इनसे गुणा करनेसे चार सौ वत्तीस भेद होते हैं। इसप्रकार जीवके परिणामोंके भेदसे आस्रवोंके भी भेद होते हैं ॥ ८ ॥

निर्वर्त्तना निक्षेप संयोग निसर्गा द्वि चतु र्द्वि त्रि भेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(परं) पर अर्थात् अजीवाधिकरण (**निर्वर्त्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः**) निर्वर्त्तनाधिकरण, निक्षेपाधिकरण, संयोगाधिकरण और निसर्गाधिकरण इसप्रकार चार भेदरूप है। सो (**द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः**) क्रमसे दो चार दो और तीन भेदोंवाला है। अर्थात् निर्वर्त्तनादि अधिकरणोंके क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेद हैं। **निर्वर्त्तनाधिकरण** रचना करने वा उत्पन्न करनेको कहते हैं। शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना **देहदुःप्रयुक्तनिर्वर्त्तनाधिकरण** है। और हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकोंकी रचना करना **उपकरणनिर्वर्त्तनाधिकरण** है। निर्वर्त्तनाधिकरणके मूलगुणनिर्वर्त्तना और उत्तरगुणनिर्वर्त्तना इसप्रकार भी दो भेद हैं। शरीर, मन, वचन और श्वासोच्छ्वासोंका उत्पन्न करना **मूलगुणनिर्वर्त्तना** है। और काष्ठ पुस्त अर्थात् मिट्टी पाषाणादिसे मूर्ति आदिकी रचना करना वा चित्रपटादि बनाना **उत्तरगुणनिर्वर्त्तनाधिकरण** है। **निक्षेप** नाम धरने वा रखनेका है। उसके १ सहसानिक्षेपाधिकरण, २ अना-

१ इन ही एक सौ आठ आरंभजनित पापास्रवोंको दूर करनेकेलिए अथवा इन एक सौ आठ आरंभकों छोडकर धर्मध्यानमें उपयोग लगानेकेलिए माला (जाप) में एक सौ आठ दाने होते हैं।

भोगनिक्षेपाधिकरण, ३ दुःप्रमृषनिक्षेपाधिकरण और ४ अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ये चार भेद हैं। भयादिकसे अथवा अन्य कार्य करनेकी शीघ्रतासे पुस्तक, कमंडलु, शरीर तथा शरीरके मल आदि क्षेपनेको **सहसानिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। शीघ्रता न होनेपर भी यहां जीव जंतु हैं कि नहीं हैं ऐसा विचार नहीं करे और विना देखें ही पुस्तक कमंडलु आदि रखने डालने तथा धरनेको और योग्यस्थानमें न धरकर जहां तहां विना देखे ही रखनेको **अनाभोगनिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। दुष्टतासे तथा यत्नाचारतारहित होके उपकरणादिकके रखने वा डालनेको **दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण** कहते हैं और विना देखें ही वस्तुका निक्षेपण करना **अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण** हैं। **संयोग** नाम जोडने वा मिलानेका है। संयोगाधिकरण भी दो प्रकारका है, १ उपकरणसंयोजना और २ भक्तपानसंयोजना। शीतस्पर्शरूप पुस्तक कमंडलु शरीरादिकको तपी हुई पीछीसे पोंछना शोधना **उपकरणसंयोजना** है। और पान भोजनको अन्य पान भोजनमें मिलाना वा परस्पर मिलाना **भक्तपानसंयोजना** है। **निसर्गाधिकरण** तीन प्रकारका है। १ मनोनिसर्गाधिकरण, २ वाग्निसर्गाधिकरण और ३ कायनिसर्गाधिकरण। दुष्ट प्रकारसे मनको प्रवर्त्ताना **मनोनिसर्गाधिकरण** है। दुष्ट प्रकारसे वचनको प्रवर्ताना **वाग्निसर्गाधिकरण** है और दुष्ट प्रकारसे शरीरको हिलाना चलाना **कायनिसर्गाधिकरण** है। ऐसे ग्यारह प्रकारके अजीवाधिकरण हैं। जीव और अजीव इन दो अधिकरणोंके आश्रयसे कर्मोंका आगमन (आस्रव) होता है। अतएव इन दोनों अधिकरणोंके भावोंके ये सब विशेष भेद कहे गये हैं ॥ ९ ॥

ये सामान्य आस्रवके भेद कहे। अब ज्ञानावरणादि विशेष आस्रवोंके कारण कहते हैं;—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

अर्थ—(तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः) ज्ञान तथा दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन और उपघात ये (ज्ञानदर्शनावरणयोः) ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रव होनेके कारण हैं। कोई पुरुष मोक्षको कारणभूत तत्त्वज्ञानकी प्रशंसायोग्य कथनी कर रहा हो, परन्तु उसको सुनकर ईर्षाभावसे प्रशंसा नहीं करे या मौन रक्खे, इसप्रकारके भावको **प्रदोष** कहते हैं। जो स्वयं शास्त्रोंका जानकार विद्वान् हो, और कोई पुरुष जाननेके लिए पूछे कि 'अमुक पदार्थका स्वरूप क्या है?' तो कह दे कि 'मैं इस विषयको नहीं जानता' इसप्रकार शास्त्रज्ञानके छिपानेका नाम **निह्नवभाव** है। 'यह पढ़कर पंडित हो जायगा तो मेरी बराबरी करेगा' इस अभिप्रायसे किसीको पढ़ाना नहीं सो **मात्सर्यभाव** है। किसीके ज्ञानके अभ्यासमें विघ्न कर देना, पुस्तक पाठक पाठशाला स्थान आदिका विच्छेद कर देना अथवा जिस कार्यसे ज्ञानका (विद्याका) प्रचार होनेवाला हो, उस कार्यका विरोध करना या बिगाड़ देना **अंतराय** है। अन्यके द्वारा प्रकाशित किये हुए ज्ञानको वर्जन करना—रोक देना कि 'अभी इस विषयको मत कहो' इत्यादि भावको—**आसादन** कहते हैं। और प्रशंसनीय ज्ञानको दूषण लगाना सो **उपघात** है। इन छह कारणोंसे यदि ये ज्ञानके विषयमें हों तो ज्ञानावरणकर्मोंका और दर्शनके विषयमें

हों तो दर्शनावरणकर्मोंका आस्रव होता है। यद्यपि आस्रव हरसमय आयुकर्मके सिवाय सातों कर्मोंका होता है, तथापि स्थिति (कालकी मर्यादा) बंध तथा अनुभाग (फल देनेकी शक्ति) बंधकी अपेक्षा विशेष कारण कहे गये हैं अर्थात् ऐसे कामोंके करनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंमें स्थिति तथा अनुभाग बंध अधिक होता है ॥ १० ॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय-स्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—(**दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि**) दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन ये (**आत्मपरोभयस्थानि**) आप करनेसे, अन्यसे करानेसे, तथा दोनोंको एक साथ उत्पन्न करानेसे (**असद्वेद्यस्य**) असातावेदनीयकर्मका आस्रव होता है। पीड़ारूप परिणामको **दुःख** कहते हैं। अपने उपकारक द्रव्यके वियोग (नष्ट) होनेपर परिणाम मलिन करना, चिंता करना, खेदरूप होना **शोक** है। निंद्य कार्य करनेसे अपनी निंदा होनेपर पश्चात्ताप करना **ताप** है। परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक विलाप करना वा रोना **आक्रंदन** है। आयु, इंद्रिय, बल, प्राण आदिकका वियोग करना **वध** है और ऐसा विलाप करना कि सुननेवालेके चित्तमें दया उत्पन्न हो जाय सो **परिदेवन** है। इत्यादि अनेक कारणोंसे असातावेदनीयकर्मका आस्रव होता है ॥ ११ ॥

भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—(**भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः**) भूत-

व्रत्यनुकंपा, दान, सरागसंयमादि योग, (क्षांतिः) क्षमा और (शौचम्) शौच (इति) इसप्रकारके भावोंसे (सद्वेद्यस्य) सातावेदनीयकर्मका आस्रव होता है। भूतोंके अर्थात् चारों गतियोंके जीवोंके और व्रतियोंके अर्थात् अहिंसादिक व्रतोंके धारण करनेवालोंके दुःखको देखकर उन दुःखोंके दूर करनेरूप परिणामोंको **भूतव्रत्यनुकंपा**; परके तथा अपने उपकारार्थ धन, औषधि, आहारादिक देनेको **दान** और दुष्ट कर्मोंको नष्ट करनेमें राग करनेरूप संयमको अथवा रागसहित संयमको **सराग-संयम** कहते हैं। 'आदि' शब्दसे संयमासंयम[२], अकामनिर्जरा[३], बालतप[४] आदिक समझना चाहिए। इन सबके अनिंद्य आचरणका नाम **योग** है। शुभ परिणामोंकी भावनासे क्रोधादि कषायोंका जो अभाव सो **क्षमा** है और लोभके त्यागको **शौच** कहते हैं॥ १२॥

मोहनीयकर्म दोप्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्र-मोहनीय। इनमेंसे पहले अनंतसंसारके कारणस्वरूप दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारण कहते हैं;—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य १३

अर्थ—(केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः) केवलज्ञानीका, शास्त्रका, मुनियोंके संघका, अहिंसामय धर्मका और देवोंका अवर्णवाद[५] करना (दर्शनमोहस्य) दर्शनमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण

---

१ पांचों इंद्रियोंको और मनको वश करना और छः कायके जीवोंको वश करना **संयम** है। २ एक देशत्याग करनेको तथा विना प्रयोजनके विषयोंके त्यागको **संयमासंयम** कहते हैं। ३ अपने अभिप्रायसे त्याग नहीं करके पराधीनतासे भोगोपभोगका विरोध होना **अकामनिर्जरा** है। ४ तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपसे अनभिज्ञ मिथ्यादृष्टिको **बाल** और उसके तपको **बालतप** कहते हैं। ५ जो दोष न हों, उनका भी होना बतलाना—निंदा करना **अवर्णवाद** है।

है। केवलज्ञानीके क्षुधा, तृषा, आहार, नीहार आदि दोष कहना, कंबलादि वस्त्र तथा पात्रादिका कहना **केवलीका अवर्णवाद** है। 'शास्त्रमें मद्य, मांस मधु आदिके सेवनका उपदेश है', 'वेदनासे पीड़ितके लिए मैथुनसेवन रात्रिभोजनादिक कहा है', इत्यादि दोष लगाना **शास्त्रका अवर्णवाद** है। देहसे निर्ममत्व निर्ग्रंथ वीतराग मुनीश्वरोंके संघको 'अपवित्र' 'निर्लज्ज' आदि कहना **संघका अवर्णवाद** है। अहिंसामय जैनधर्मके सेवन करनेवाले सब असुर होते हैं अथवा होवेंगे ऐसा कहना **धर्मका अवर्णवाद** है। और देवोंको मांसभक्षी, सुरापायी, भोजन करनेवाले तथा मानुषीसे काम सेवनादि करनेवाले कहना **देवोंका अवर्णवाद** है। इनसे दर्शनमोहनीयकर्मका आस्रव होता है ॥ १३ ॥

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थ—(**कषायोदयात्**) कषायोंके उदयसे (**तीव्रपरिणामः**) तीव्रपरिणाम होना (**चारित्रमोहस्य**) चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है। आत्मज्ञानी तपस्वियोंकी निंदा करना, धर्मको नष्ट करना, धर्मसाधनमें अंतराय करना, ब्रह्मचारियोंको ब्रह्मचर्यसे चिगाना, देशव्रती महाव्रतियोंको व्रतोंसे चलायमान करना, मद्यमांसमधुके त्यागीको भ्रम पैदा कराना, उत्तम चारित्रमें तथा प्रतिष्ठा और यशःकीर्तिमें दूषण लगाना इत्यादि तीव्र परिणामोंके कार्य हैं। इन कार्योंसे चारित्रमोहनीयकर्मका आस्रव होता है ॥ १४ ॥

अब आयुकर्मके आस्रवके कारणोंको कहते हैं;—

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—(**बह्वारंभपरिग्रहत्वं**) बहुत आरंभ करना और बहुत

परिग्रह रखना (नारकस्य) नारकीकी (आयुषः) आयुके आस्रवका कारण है ॥ १५ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—(माया) चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न हुआ कुटिल स्वभाव (तैर्यग्योनस्य) तिर्यंच योनिकी आयुके आस्रवका कारण होता है। जो मनमें और विचारे, वचनसे और ही कहे और शरीरसे और ही प्रवृत्ति करे, उसको मायाचारी कहते हैं ॥ १६ ॥

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—(अल्पारंभपरिग्रहत्वं) थोड़ा आरंभ करना और थोड़ा परिग्रह (तृष्णा) रखना (मानुषस्य) मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है ॥ १७ ॥

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थ—(स्वभावमार्दवं) स्वाभाविक कोमलता (च) भी मनुष्यायुके आस्रवकी कारण है ॥ १८ ॥

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—(च) और (निःशीलव्रतत्वं) दिग्व्रत, देशव्रत आदिक सात शील तथा अहिंसादिक पांच व्रतोंका धारण नहीं करना (सर्वेषां) चारों गतियोंके आस्रवका कारण है ॥ १९ ॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरावालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

अर्थ—(सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरावालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और वालतप (दैवस्य)

---

१ 'तिर्यग्योनो भवं तैर्यग्योनम्' अण्।

देवायुके आस्रवके कारण हैं। कर्मोंके नाश करनेमें तथा व्रतादिक शुभाचरण करनेमें रागसहित भाव होना **सरागसंयम** है। त्रसहिंसाका त्यागरूप संयम और स्थावरहिंसाका अत्यागरूप असंयम, इसप्रकार संयम और असंयम दोनों प्रकारके परिणाम होना **संयमासंयम** है। पराधीनतासे क्षुधा तृषादिकी पीड़ा भोगना, मारना ताड़ना आदि सहना, परितापादि दुःख भोगनेका मंदकषायरूप भाव होना **अकाम-निर्जरा** है और आत्मज्ञानरहित तप करना **बालतप** (अज्ञानतप) है। इनसे तथा हितैषी कल्याण करनेवाले मित्रोंका संबंध करनेसे, धर्मायतनोंके सेवनसे, सत्यधर्मके श्रवणसे, प्रशंसासे और प्रभावना आदिकसे देवायुका आस्रव होता है॥ २० ॥

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थ—(च) और (**सम्यक्त्वं**) सम्यग्दर्शन भी देवायुका कारण है। परन्तु जुदा कहनेसे कल्पवासी देवोंकी आयुका ही कारण है, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—(**योगवक्रता**) मनवचनकायके योगोंकी वक्रता वा कुटिलता (**च**) और (**विसंवादनं**) अन्यथा प्रवृत्तिसे ये (**अशुभस्य नाम्नः**) अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २२ ॥

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थ—(**तद्विपरीतं**) योगवक्रता और विसंवादसे विपरीत—मन-वचनकायकी सरलता और विसंवादका अभाव (**शुभस्य**) शुभनाम-कर्मके आस्रवका कारण है ॥ २३ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचा-रोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी,

साधु समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रव-चनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—(**दर्शनविशुद्धिः**) १ पच्चीस[1] दोषरहित निर्मलसम्यक्त्व, (**विनयसंपन्नता**) २ दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारकोंमें तथा देव, शास्त्र गुरु और धर्ममें प्रत्यक्ष व परोक्ष विनय करना; कषायका अभाव करके आत्माको मार्दवरूप करना; (**शीलव्रतेष्वनतीचारः**) ३ अहिंसादि व्रतोंमें तथा उनके प्रतिपालन करनेवाले क्रोधवर्जनादि शीलोंमें निरतिचार प्रवृत्ति रखना; (**अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ**) ४ निरंतर तत्त्वाभ्यास करते रहना; ५ संसारके दुःखोंसे भयभीत होना; (**शक्तितः त्यागतपसी**) ६ शक्तिको नहीं छिपाकर यथाशक्ति दान करना; ७ कायक्लेशादि तप करना; (**साधुसमाधिः**) ८ मुनियोंके विघ्न और कष्टको दूर करके उनके संयमकी रक्षा करना; (**वैयावृत्य-करणम्**) ९ रोगी साधुमुनिगणोंकी सेवा (टहल) करना; (**अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः**) १० अरहंतवीतरागकी भक्ति अर्थात् गुणोंमें अनुराग रूप अर्हद्भक्ति; ११ संघमें दीक्षाशिक्षाके देनेवाले संघाधिपति आचार्योंके गुणोंमें अनुरागरूप आचार्यभक्ति; १२ उपाध्याय महाराजके गुणोंमें अनुरागरूप बहुश्रुतभक्ति; १३ और शास्त्रके गुणोंमें अनुरागरूप प्रवचनभक्ति; (**आवश्यकापरि-हाणिः**) १४ सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओंमें हानि नहीं करना;

---

१ शंका कांक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, षट् अनायतन और तीन मूढता पच्चीस दोष हैं।

(**मार्गप्रभावना**) १५ स्याद्वादविद्याध्ययनपूर्वक परमतके अज्ञान अंधकारको दूर करके जैनधर्मका प्रभाव बढ़ाना व वृद्धिरूप करना; और (**प्रवचनवत्सलत्वम्**) १६ साधर्मी जीवोंके साथ गऊबछड़ेके समान प्रीति करना; इसप्रकार सोलह भावनाएं (**तीर्थंकरत्वस्य**) तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवका कारण हैं। इन सोलह भावनाओंमेंसे कुछ न्यून हों, तो भी तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव होता है। परन्तु उनमें दर्शनविशुद्धि अवश्य चाहिए ॥ २४ ॥

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—(**परात्मनिंदाप्रशंसे**) परकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना, (**च**) और (**सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने**) परके विद्यमान गुणोंका आच्छादन करना और अपने विद्यमान गुणोंका प्रकाश करना; (**नीचैर्गोत्रस्य**) नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २५ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—(**तद्विपर्ययः**) नीचगोत्रके आस्रवोंके विपरीत कारण अर्थात् अपनी निंदा, परकी प्रशंसा तथा अपने गुण ढँकना, परके गुण प्रकाश करना (**च**) और (**नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ**) नीचैर्वृत्ति[1] और उत्सेकताका अभाव[2], ये (**उत्तरस्य**) उत्तरके अर्थात् उच्चगोत्र-कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २६ ॥

---

१ '**गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिः**'-गुणोंमें जो बड़े हों उनके साथ विनयरूप रहनेको नीचैर्वृत्ति कहा है। २ '**विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः**'-गुणोमे आप बड़ा होकर मद नहीं करनेको अनुत्सेक कहते हैं।

विघ्नकरणमंतरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—(विघ्नकरणम्) परके दान भोगादिकमें विघ्न करना (अंतरायस्य) अंतरायकर्मके आस्रवका कारण है। अर्थात् दान देनेमें विघ्न करनेसे लाभांतरायकर्मका आस्रव होता है। परके लाभमें विघ्न डालनेसे लाभांतरायकर्मका आस्रव होता है। परके बल वीर्य विगाड़नेसे वीर्यांतरायकर्मका आस्रव होता है। परके भोग उपभोगके कारणोंको विगाड़नेसे भोगांतराय और उपभोगांतराय कर्मका आस्रव होता है ॥ २७ ॥

इसप्रकार आठों कर्मोंके आस्रव होनेके प्रधान प्रधान कारण कहे गये। विशेष कारण असंख्यात हैं।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः॥ ६ ॥

सप्तम अध्याय।

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—(हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः) हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इनसे (विरतिः) बुद्धिपूर्वक विरक्त होना (व्रतम्) व्रत है ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—(देशसर्वतः) एकदेश हिंसादिकोंसे और सर्वप्रकार

१ सामान्य आस्रवका कथन करके विशेष शुभ आस्रवका कथन करनेकेलिए अध्यायका प्रारंभ करते है। जीव अशुभ, शुभ तथा शुद्ध उपयोगवाले इसप्रकार तीन जातिके होते है। जबतक शुद्ध अवस्था नहीं हो, तबतक शुभ अवस्था भी ग्राह्य मानी है। २ हटना, न करना। ३ देशश्च सर्वं चेति देशसर्वे, देश-

हिंसादिकोंसे विरक्त होना, क्रमसे (अणुमहती) अणुव्रत और महाव्रत हैं। **भावार्थ**—इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग करना **अणुव्रत** है और मनवचनकाय कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा त्याग कर देना **महाव्रत** है ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—(**तत्स्थैर्यार्थं**) इन व्रतोंको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी (**पंच पंच**) पांच पांच (**भावनाः**) भावना हैं। वारंवार चिंतवन करनेको भावना कहते हैं ॥ ३ ॥

अब प्रथम ही अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं;—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थ—(**वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि**) वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये (**पंच**) पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं। वचनकी प्रवृत्तिको भले प्रकार रोकना सो **वचनगुप्ति** है। मनकी प्रवृत्तिको भले प्रकार रोकना सो **मनोगुप्ति** है। चार हाथ पर्यंत पृथिवीको देखकर यत्नाचारपूर्वक चलना सो **ईर्यासमिति** है। भूमिको जीवरहित देखकर वस्तुको यत्नाचारपूर्वक उठाना वा रखना वा डालना सो **आदाननिक्षेपणसमिति** है। आहार पान आदिकमें अंतरंगकी ज्ञानदृष्टिसे वा नेत्रदृष्टिसे देख शोधकर भोजनपान करना सो **आलोकितपानभोजन** है ॥ ४ ॥

सर्वेभ्यः इति देशसर्वतः। अणु च महच्चेति अणुमहती। देशेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिरणुव्रतम्, सर्वेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतमित्यर्थः।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थ--(क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि) क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, हास्यका त्याग (च) और (अनुवीचिभाषणं) सूत्रके अनुसार निर्दोष (शास्त्रानुसार) बोलना ये (पंच) पांच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ५ ॥

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—(शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्मोविसंवादाः) खाली घरमें रहना, किसीके छोडे हुए स्थानमें रहना, अन्यको रोकना नहीं, शास्त्रविहित भिक्षाकी विधिमें न्यूनाधिक नहीं करना और सधर्मी भाइयोंसे विसंवाद नहीं करना ये (पंच) पांच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ६ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ।७।

अर्थ—(स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः) स्त्रियोंमें प्रीति उत्पन्न करनेवाली कथाओंके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको रागसहित देखनेका त्याग, पूर्वकालमें किये हुए विषयभोगोंके स्मरण करनेका त्याग, कामोद्दीपन करनेवाले पुष्टिकर और इंद्रियोंको लालसा उत्पन्न करनेवाले रसोंका त्याग और शरीरको शृंगारयुक्त करनेका त्याग ये (पंच) पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥ ७ ॥

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच । ८ ।

अर्थ—(मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि) पांचों इन्द्रियोंके स्पर्श रसादिक इष्ट वा अनिष्टरूप पांचों विषयोंमें रागद्वेषका त्याग करना (पंच) परिग्रहत्यागव्रतकी पांच भावनाएँ हैं। इन पांचों भावनाओंके भावनेसे व्रतोंकी दृढ़ता होती है ॥ ८ ॥

अब अहिंसादि पांचों व्रतोंसे उलटे हिंसादि पापोंमें कैसी भावना रखना चाहिए, यह कहते हैं:—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(हिंसादिषु) हिंसादि पांचों पापोंके होनेसे (इह) इस लोकमें तथा (अमुत्र) परलोकमें (अपायावद्यदर्शनम्) राजदंड पंचदंड आदि आपत्तियाँ तथा छेदन भेदन आदि निंद्य कष्ट देखने सहने पड़ते हैं, इस प्रकार चिंतवन करे ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—(वा) अथवा हिंसादि पांच पाप (दुःखं एव) दुःखरूप ही हैं, इसप्रकार भावना करना। यहां कारणमें कार्यका उपचार कर हिंसादि पापोंको दुःख कहा है ॥ १० ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—(मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ भी क्रमसे (सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु) सर्वसाधारण जीवोंमें, गुणाधिकोंमें, दुःखियोंमें और अविनयी वा मिथ्यादृष्टियोंमें करनी चाहिए। **भावार्थ**—सर्वसाधारण जीवोंसे मैत्रीभाव रखना **मैत्रीभावना** है। जो गुणोंमें अधिक हों, उनमें प्रमोद भावना रखना अर्थात् अपनेसे अधिक

विद्वानों वा धर्मात्माओंको देखते ही मुखादिकसे प्रसन्नता प्रगट करना तथा हर्षित होकर उनके गुणोंमें अनुरक्त हो भक्ति प्रगट करना **प्रमोद-भावना** है। और रोगादिकसे पीड़ित वा दुःखित जीवोंपर करुणाबुद्धि रखना वा उनके रोग दुःखादि दूर होने वा करनेका अभिप्राय रखना **कारुण्यभावना** है। और जो जीव तत्त्वार्थके उपदेशको ग्रहण करने योग्य नहीं हों, अविनयी हों, उनमें रागद्वेषरहित मध्यस्थ भाव रखना **माध्यस्थ्यभावना** है ॥ ११ ॥

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ—(वा) अथवा (**संवेगवैराग्यार्थं**) संवेग और वैराग्यके लिए (**जगत्कायस्वभावौ**) जगत् और कायके स्वभावको भी वारंवार चिंतवन करना चाहिए ॥ १२ ॥

अब क्रमसे पांचों पापोंके लक्षण कहते हैं;—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ—(**प्रमत्तयोगात्**) प्रमादके[१] योगसे (**प्राणव्यपरोपणं**) भावप्राण वा द्रव्यप्राणोंका[२] वियोग करना (**हिंसा**) हिंसा है। कषाय-सहित भाव होनेका अर्थात् आत्माके रागद्वेषरूप परिणाम होनेको **प्रमत्त** कहते हैं। आत्माके ज्ञान दर्शनादि स्वभावोंको **भावप्राण** कहते हैं। श्वास उच्छ्वासादिकको द्रव्यप्राण कहते हैं ॥ १३ ॥

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(**असदभिधानं**) किसी जीवको दुःख देनेवाला अप्रशस्त[३] वचन कहना (**अनृतम्**) अनृत अर्थात् असत्य है ॥ १४ ॥

---

१ पांच इंद्रिय, चार कषाय, चार विकथा, रागद्वेष और निंदा इसप्रकार पंद्रह प्रमाद हैं। २ पांच इंद्रिय, तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल), आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस द्रव्यप्राण हैं। ३ असुहावना वा अहितकारी।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

अर्थ—लोभादि प्रमादोंके योगसे (**अदत्तादानं**) दूसरोंके धन धान्यादि पदार्थोंका उनके विना दिये ग्रहण करना (**स्तेयम्**) स्तेय अर्थात् चोरी है ॥ १५ ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—रागादि प्रमादोंके योगसे (**मैथुनं**) स्त्रीपुरुषोंकी परस्पर स्पर्शनादिरूप क्रिया (**अब्रह्म**) अब्रह्म अर्थात् कुशील है ॥ १६ ॥

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—(**मूर्च्छा**) चेतनअचेतनरूप परिग्रहमें ममत्वरूप परिणाम ही (**परिग्रहः**) परिग्रह है। **भावार्थ**—वाह्यमें स्त्री पुत्र दासी दास सेवक परिवार गाय भैंस हाथी घोड़ा धन धान्य सुवर्ण रूपा मणि मोती शय्या आसन गृह आभरण वस्त्रादिकोंमें तथा अभ्यन्तरमें रागादिक परिणामोंमें जो उपार्जन–संस्कारादिरूप ममत्वभाव होता है, उसे मूर्च्छा कहते हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है ॥ १७ ॥

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—(**निःशल्यः**) जो शल्यरहित है वही (**व्रती**) व्रती है। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं। मनमें और, वचनमें और, तथा कायमें और ही कुछ करे, इसको छल कपट अर्थात् **मायाशल्य** कहते हैं। तत्त्वार्थका अश्रद्धान सो **मिथ्यात्वशल्य** है। और आगामी कालमें विषयभोगोंकी वांछा करना सो **निदानशल्य** है। इन तीन शल्योंके रहते अहिंसादिक पांच व्रत धारण करनेपर भी जीव व्रती नहीं हो सकता है। वास्तवमें व्रतोंको धारणकर शल्यरहित होनेपर ही व्रती होता है ॥ १८ ॥

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ—व्रती जीव दोप्रकारके होते हैं, एक (अगारी) गृहस्थी (च) और दूसरे (अनगारः) गृहत्यागी-साधु ॥ १९ ॥

अणुव्रतोऽगारी[1] ॥ २० ॥

अर्थ—(अणुव्रतः) अणुमात्र व्रतवाला अर्थात् जिसके एकदेश यथाशक्ति पांचों पापोंका त्याग हो, वह (अगारी) अणुव्रती गृहस्थ वा श्रावक कहलाता है। द्वींद्रियादिक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग सो प्रथम **अहिंसाणुव्रत** है। स्नेह वैर मोह रागादिके वशसे असत्य कहनेका त्याग सो द्वितीय **सत्याणुव्रत** है। दूसरेके विना दिये हुए पदार्थोंके ग्रहणको जिससे कि उनको पीड़ा होती है और राजादि दंड देते हैं, चोरी वा चौर्य कहते हैं और उस चौर्यका छोड़ देना—त्याग करना तृतीय **अचौर्याणुव्रत** है। अन्यकी ग्रहण की हुई अथवा नहीं ग्रहण की हुई (अविवाहित) स्त्रीसे रमनेका त्याग सो चतुर्थ **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है। और धन धान्य दासी दास आदिका परिमाण करके शेपका त्याग करना सो **परिग्रहपरिमाण** पांचवाँ अणुव्रत है। इस प्रकार पांच अणुव्रतोंका धारी अणुव्रती वा श्रावक कहलाता है॥ २० ॥

अव गृहस्थके सात शीलव्रत कहते हैं;—

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थदंडविरति ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोपधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथि-

---

१ व्रतोंके दो भेद कहे थे—१ अणुव्रत और २ महाव्रत। जिनके अणुव्रत हैं सो अगारी हैं, ऐसा कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जिनके महाव्रत हैं, वे अनगार अर्थात साधु मुनि हैं।

संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सात व्रत भी गृहस्थ व्रतीको धारण करने चाहिए। अर्थात् पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतों-सहित बारह व्रतका धारी पूर्ण व्रती श्रावक (व्रतप्रातिमाका धारी) कहलाता है। लोभ आरंभादिके त्यागके अभिप्रायसे पूर्वादि दिशा-ओंमें किसी नदी, ग्राम. नगर, पर्वत आदि तक गमनागमनका स्थान रख उससे आगे जानेका यावज्जीव त्याग करना सो **दिग्व्रत** है और यावज्जीव किये हुए दिग्व्रतमेंसे और भी संकोचकर किसी ग्राम, नगर, गृह, मुहल्ले आदि पर्यन्तका गमनागमन रखकर उससे आगे मास, पक्ष, दिन, दो दिन, चार दिन आदि कालकी मर्यादारूप गमना-गमनका त्याग करना सो **देशव्रत** है। विना प्रयोजन ही जिन कार्योंसे पापारंभ हो, उन कार्योंका त्याग करना सो **अनर्थदंडव्रत** है। जिनमें व्यर्थ ही पापबंध होता है, ऐसे अनर्थदंड पांचप्रकारके हैं। १ पापोपदेश, २ हिंसादान, ३ अपध्यान, ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या। तिर्यंचादिकके क्लेश होनेका, वनस्पति छेदनेका, पृथिवीके खोदने आदिका उपदेश देना **पापोपदेश** अनर्थदण्ड है। हिंसाके उपकरण शस्त्र, फावड़ा, कुदाल, बेड़ी, सांकल, चाबुक, विष, आग्नेय शस्त्र (तोप बन्दूक) आदि पदार्थोंका दान करना **हिंसादान** अनर्थदण्ड है। अन्य जीवोंके दोष ग्रहण करनेके भाव, अन्यका धन ग्रहण करनेकी इच्छा, अन्यकी स्त्रीके देखनेकी इच्छा, तथा अन्य मनुष्य तिर्यंचोंके कलह देखनेके भाव, अन्यकी स्त्री पुत्र धन आजीविका वगैरहके नष्ट होनेकी चाहना, परका अपमान अप-वाद अवज्ञा चाहना, इत्यादिका निरंतर ध्यान रखना—चिन्ता करना सो **अपध्यान** अनर्थदंड है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, अभिमानके बढ़ानेवाले, हिंसाके पोषण करनेवाले, मिथ्यात्वको बढ़ानेवाले, और

भंडकथा तथा युद्धकथाके कहनेवाले वेद पुराण स्मृत्यादि ग्रंथोंका श्रवण करना **दुःश्रुति** अनर्थदंड है और विना प्रयोजन ही जल वखेरना, अग्नि जलाना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना आदिको **प्रमादचर्या**नामा अनर्थदंड कहते हैं। इन पांचप्रकारके अनर्थदंडोंका त्याग करना **अनर्थदंडविरति** है। और तीनों संध्याओंके समय समस्त पापयोग क्रियाओंसे रहित होकर सबसे राग द्वेष छोड़ साम्य-भावको प्राप्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना **सामायिकव्रत** है। प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीके दिन समस्त आरंभ छोड़कर विषय कषाय और चारप्रकारके आहारोंको त्यागकर धर्मकथाको सुनता हुआ सोलह पहर (पहले दिनके दुपहरसे लगा, पारनेके दिन दो पहरतक) व्यतीत करे सो **प्रोषधोपवास** है। जो एक वार ही भोगे जाते हैं ऐसे तांबूल भोजन पान सुगंधि आदि पदार्थ उपभोग[1] हैं, और जो अनेक वार भोगे जाते हैं, ऐसे आभरण वस्त्र गृह वाहन शय्यादि पदार्थ परिभोग हैं। कुछ उपभोग परिभोगोंको रखके बाकीका यम-नियमरूप[2] त्याग करना **उपभोगपरिभोगपरिमाण** है। और अतिथि पुरुषोंको अर्थात् जो मोक्षके अर्थ उद्यमी संयमी और अंतरंग वहिरंगमें शुद्ध होते हैं ऐसे व्रती पुरुषोंको शुद्ध मनसे आहार औषधि उपकरण और वस्तिकाका दान करना **अतिथिसंविभाग** है। इसप्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शीलव्रत भी गृहस्थको धारण करने योग्य हैं। इस सूत्रमें जो 'च' शब्द है, वह आगेके सूत्रमें कहे हुए सल्लेखनारूप गृहस्थधर्ममें शामिल करनेकेलिए है॥ २१॥

---

१ यहांपर उपभोगका अर्थ एकही वार भोगमें आनेवाली वस्तुओंका है।
२ यावज्जीवन त्याग करनेको **यम** कहते है और किसी नियत समय तकके लिए त्याग करनेको **नियम** कहते है।

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—गृहस्थ (**मारणांतिकीं**) मृत्युके समय होनेवाली (**सल्लेखनां**) सल्लेखनाको (**जोषिता**) सेवन करे। मृत्युके समय काय और कषायको क्रमसे कृश करते करते धर्मध्यानमें सावधान रहकर प्राणोंके त्यागनेको सल्लेखना कहते हैं। इसको संन्यासमरण व उत्तममरण भी कहते हैं। गृहस्थको यह परमोपकारी शुभगतिका कारणरूप सर्वोत्तम व्रत भी प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिये ॥ २२ ॥

आगे संपूर्ण व्रतोंके अतीचार कहेंगे; जिनमेंसे पहले सम्यक्त्वके पांच अतीचार कहते हैं;—

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—(**शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः**) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच (**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दर्शनके (**अतीचाराः**) अतीचार हैं। अरहंत भगवान्‌के परमागममें पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है, उसमें संशय करना अथवा अपने आत्माको ज्ञाता द्रष्टा अंखड अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जान करके भी सात प्रकारके भय करना **शंका** अतीचार है। इसलोक और परलोकसंबंधी भोगोंकी वांछा रखना **कांक्षा** अतीचार है। दुःखी दरिद्री रोगी इत्यादिक क्लेशसंपन्न जीवोंको देखकर ग्लानि करना वा असमीचीन पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना **विचिकित्सा** अतीचार है। मिथ्यादृष्टीके ज्ञानचारित्रादि

---

१ व्रतको सर्वथा छोड़ देना सो तो **अनाचार** है और व्रतमें दोष लगाना **अतीचार** है। २ इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तभय और अकस्मात्‌भय ये सात प्रकारके भय है।

गुणोंको मनसे प्रगट करना अन्यदृष्टिप्रशंसा अतीचार है । और मिथ्यादृष्टीके छते अनछते गुणोंका वचनसे प्रगट करना अन्यदृष्टि-संस्तव अतीचार है । सम्यग्दृष्टीको ये पांच अतीचार भी छोड़ने चाहिए ॥ २३ ॥

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इसी (व्रतशीलेषु) पांच व्रत और सात शीलोंमें भी (यथाक्रमम्) क्रमसे (पंच पंच) पांच पांच अतीचार हैं, जिन्हें आगेके सूत्रोंमें कहते हैं ॥ २४ ॥

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अर्थ—बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाणुव्रतके अतीचार हैं । पशु आदि जीवोंको बांधकर अटका रखना बंधातीचार है । लकड़ी चाबुक आदिसे पीटना वधातीचार है । कान नासिका आदि छेदकर दुःखी करना छेदा-तीचार है । बहुत (शक्तिसे अधिक) भार लादना अतिभारारो-पणातीचार है । और खानपानादि रोककर भूखा प्यासा रखना अन्नपाननिरोधातीचार है ॥ २५ ॥

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासा-पहारसाकारमंत्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं । परमागमसे विरुद्ध औरका और झूठा उपदेश देना मिथ्योपदेश अतीचार है । स्त्रीपुरुषादिकी गुप्त वार्त्ताओं वा गुप्त आचरणोंको प्रगट करना रहो-भ्याख्यान अतीचार है । झूठे खत स्टांप वगैरह लिखना कूटलेख

क्रिया अतीचार है। कोई मनुष्य रुपया गहना आदि धरोहर रख जावे और भूलकर थोड़ा मांग बैठे, तो उसको 'हां तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' ऐसा कहकर जितना उसने मांगा हो उतना ही देना–पूरा नहीं देना **न्यासापहार** अतीचर है। और किसीके मुंह आदिकी चेष्टाओंसे उसके मनका गुप्त अभिप्राय जानकर प्रगट कर देना **साकारमन्त्रभेद** अतीचार है ॥ २६ ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना-धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ–स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतीचार हैं। चोरी करनेका उपाय बताना **स्तेनप्रयोग** नामक अतीचार है। चोरीकी वस्तु मोल वा विना मोल लेना **तदाहृतादान** वा **चौरार्थादान** नामा अतीचार है। राजाकी आज्ञाका लोप करके विरुद्ध चलना **विरुद्धराज्यातिक्रम** नामक अतीचार है। लेने देनेके बांट, तराजू, गज, पायली वगैरह हीन अधिक रखना **हीना-धिकमानोन्मान** नामक अतीचार है। अधिक मूल्यकी वस्तुमें थोड़े मूल्यकी वस्तु मिलाकर अधिक मूल्यसे बेचना अथवा घीमें चरबी, दूधमें पानी, आरारूट वगैरह मिलाकर और असली बताकर बेचना **प्रतिरूपकव्यवहार** नामक अतीचार है ॥ २७ ॥

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ–परविवाहकरण, परगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिका-गमन, अनंगक्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अती-

चार है। दूसरोंकी लड़की लड़कोंका विवाह करना या कहकर करा-देना **परविवाहकरण** नामका अतीचार है। दूसरेकी विवाही हुई व्यभि-चारिणी स्त्रीके यहां जाना आना वा उसके साथ देन लेन वचनालापादि **परिगृहीतेत्वरिकागमन** नामका अतीचार है। और जो वेश्यादि व्यभि-चारिणी स्त्रियां अपरिगृहीत हैं अर्थात् जिनका कोई स्वामी नहीं है, उनसे देन लेन वार्तालापादि रखना **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन** नामका अतीचार है। कामसेवनके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंसे कामक्रीडा करना **अनंगक्रीड़ा** नामका अतीचार है। और अपनी स्त्रीमें कामसेव-नकी अत्यंत अभिलाषा रखना वा कामक्रीड़ामें अतिशय मग्न रहना **कामतीव्राभिनिवेश** नामका अतीचार है ॥ २८ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदास-कुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ—क्षेत्रवास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धनधान्य, दासीदास और कुप्य इन पांचोंके परिमाणको उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं। धान्यादि उत्पन्न होनेके स्थानका नाम **क्षेत्र** है। रहनेके घर मकान वगैरह **वास्तु** हैं। रुपया चांदी वगैरहको **हिरण्य** कहते हैं। सोना व सोनेके गहनोंको **सुवर्ण** कहते हैं। गौ बैल भैंस आदिको **धन** कहते हैं। शाली गेहूं आदि **धान्य** हैं। शरीर व घरकी सेवा करनेवाली स्त्रियां तथा पुरुष **दासीदास** हैं। वस्त्र, थाली, लोटा, कपास, चंदन आदि **कुप्य** हैं। इन सबके परिमाण घटा-बढ़ा लेनेसे अतीचार हैं ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थ—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतराधान ये पांच दिग्व्रतके अतीचार हैं। परिमाणसे अधिक ऊँचाईके वृक्ष पर्वतादिकोंपर चढ़ना **ऊर्ध्वातिक्रम** है। परिमाणसे अधिक निचाईके कूप वावड़ीमें नीचे उतरना **अधोतिक्रम** है। विल, पर्वतादिकी गुफाओंमें सुरंग आदिमें टेढां जाना **तिर्यक्‌अतिक्रम** है। परिमाण की हुई दिशाओंके क्षेत्रसे अधिक क्षेत्र वढ़ा लेना **क्षेत्रवृद्धि** है। दिशाओंकी की हुई मर्यादाको भूल जाना **स्मृत्यंतराधान** है ॥ ३० ॥

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थ—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शव्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पांच देशविरति व्रतके अतीचार हैं। मर्यादासे वाहरकी वस्तुओंका मंगाना वा किसीको वुलाना **आनयन** अतीचार है। मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमें आप न जाकर सेवकादिको भेजना **प्रेष्यप्रयोग** अतीचार है। मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमें तिष्ठते हुए मनुष्यको खाँसी वा खँखारने आदिका शव्दकरके अपना अभिप्राय समझा देना **शव्दानुपात** अतीचार है। मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमें तिष्ठते हुए मनुष्यको अपना रूप दिखाकर हाथके इशारोंसे समझाकर काम करा लेना **रूपानुपात** अतीचार है और मर्यादासे वाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर इशारा करना **पुद्गलक्षेप** अतीचार है ॥ ३१ ॥

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडव्रतके अतीचार हैं। रागभावकी

उत्कटतासे हास्यमिश्रित भंडवचन बोलना **कंदर्प** अतीचार है। रागोदयकी तीव्रतासे हास्य और अशिष्ट भंड वचन बोलना और कायसेभी निंदनीय क्रिया करना **कौत्कुच्य** अतीचार है। धीठतासे बहुतसा निरर्थक प्रलाप करना **मौखर्य** अतीचार है। प्रयोजनको बिना विचारे अधिकतासे प्रवर्त्तन करना **असमीक्ष्याधिकरण** अतीचार है और भोग उपभोगके जितने पदार्थोंसे अपना काम चल जाता है उनसे अधिकका संग्रह करना **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** अतीचार है ॥ ३२ ॥

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—तीन प्रकारके योगदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिकव्रतके अतीचार हैं। मनको अन्यथा चलायमान करना **मनोदुःप्रणिधान** नामका अतीचार है। वचनको चलायमान करना **वाग्दुःप्रणिधान** नामका अतीचार है। कायको चलायमान करना **कायदुःप्रणिधान** नामका अतीचार है। उत्साहरहित अनादरसे सामायिक करना **अनादर** नामका अतीचार है। और सामायिकमें एकाग्रताके विना चित्तकी व्यग्रतासे पाठ या क्रियाको भूल जाना **स्मृत्यनुपस्थान** नामका अतीचार है ॥ ३३ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ—अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिपर मलमोचन आदि करना, तथा उपकरण ग्रहण करना, तथा संथारा आदि बिछाना, व्रतका अनादर करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पांच प्रोषधोपवासके अतीचार हैं। इस भूमिमें जीव हैं कि नहीं हैं, इस प्रकार नेत्रोंसे

देखना प्रत्यवेक्षण है और कोमल उपकरणसे भूमिका शोधना बुहारना प्रमार्जन है। सो नेत्रोंसे देखे बिना व कोमल पिच्छकादिसे शोधन किये बिना भूमिपर मल मूत्रादि डाल देना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग** नामका अतीचार है। इसी प्रकार देखे शोधे बिना अरहंत आचार्यादिकनिको पूजनके गंधमाल्य धूपादि उपकरणोंको ग्रहण करना वा वस्त्र-पात्रादिकोंको देखे सोधे बिना ही घसीटकर उठाना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** नामका अतीचार है। बिना देखी बिना शोधी भूमिपर शयनासनके लिए वस्त्रादिक बिछाना **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण** नामका अतीचार है। क्षुधातृषाकी बाधासे आवश्यकीय धर्म-क्रियाओंमें अनादरसे प्रवर्त्तना **अनादर** नामका अतीचार है। प्रोषधोपवासके दिन करनेयोग्य आवश्यकीय धर्मक्रियाओंको भूल जाना **स्मृत्यनुपस्थान** नामका अतीचार है। प्रोपधोपवास करनेवालेको इन पांच अतीचारोंका त्याग करना चाहिए ॥ ३४ ॥

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—सचित्त, सचित्तसंबंध, सचित्तसंमिश्र, अभिषव और दुःपक ऐसे पांच प्रकारके पदार्थोंका आहार करना उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं। जीवसहित पुंष्पफलादिकोंका आहार करना **सचित्ताहार** नामका पहला अतीचार है। सचित्त वस्तुसे स्पर्शे हुए पदार्थोंका आहार करना **सचित्तसंबंधाहार** नामका दूसरा अतीचार है। सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थोंका आहार **सचित्तसंमिश्राहार** नामका तीसरा अतीचार है। पुष्टिकर पदार्थोंका आहार करना **अभिषव** नामका चौथा अतीचार है और भले प्रकार नहीं पके हुए पदार्थोंका आहार करना तथा जो पदार्थ कष्टसे देरसे परिपक्क

(हजम) हों, ऐसे पदार्थोंका भोजन करना **दुःपक्काहार** नामका पांचवां अतीचार है ॥ ३५ ॥

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथिसंविभागके अतीचार हैं। सचित्त (जीवसहित) हरे कमलपत्रादिकोंमें रखकर आहारदान करना **सचित्तनिक्षेप** नामका अतीचार है। सचित्त कमलपत्रादिकसे ढँके हुए आहारादिका दान देना **सचित्तापिधान** नामका अतीचार है। अन्यकी वस्तुका दान करना **परव्यपदेश** नामका अतीचार है। अनादरसे दान देना वा अन्य दातारसे ईर्षाभाव करके दान देना **मात्सर्य** नामा अतीचार है। दान देनेके कालको उलंघन करके अकालमें भोजन देना **कालातिक्रम** नामका अतीचार है ॥ ३६ ॥

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान ये पांच सल्लेखना मरणके अतीचार हैं। सल्लेखना धारण करके जीनेकी आशंसा (इच्छा) करना **जीविताशंसा** नामका अतीचार है। रोगादिकके उपद्रवोंसे घबड़ाकर मरनेकी वांछा करना **मरणाशंसा** नामका अतीचार है। मित्रोंका स्मरण करना **मित्रानुराग** नामका अतीचार है। पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंको याद करना **सुखानुबंध** नामका अतीचार है। अगले जन्ममें विषयादि सुखोंके प्राप्त होनेकी वांछा करना **निदान** नामका अतचिार है ॥ ३७ ॥

अब दानका लक्षण कहते हैं;—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(**अनुग्रहार्थं**) अपने और परके उपकारकेलिए (**स्वस्य**) धनादिकका वा स्वार्थका (**अतिसर्गः**) त्याग करना (**दानम्**) दान है। दानसे जो पुण्यबंध होता है, वह तो अपना उपकार है। और उससे पात्रके जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि होती है, सो परका उपकार है। ऐसे स्वपर-उपकारी आहारादिके देनेको दान कहते हैं ॥३८॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ—(**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्**) विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातारविशेष और पात्रविशेषके कारण (**तद्विशेषः**) उस दानमें भी विशेषता होती है। अर्थात् इन चार कारणोंसे दानके उत्तम मध्यम जघन्य आदि भेद होते हैं। और उनके फल भी उत्तम मध्यम जघन्य आदि होते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय।

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः १

अर्थ—(**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः**) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच (**बंधहेतवः**) बंधके हेतु (कारण) हैं। अतत्त्वका श्रद्धान सो मिथ्यात्व वा मिथ्यादर्शन है। इसके दो भेद हैं। एक गृहीतमिथ्यात्व और एक अगृहीत-मिथ्यात्व। परके उपदेश व कुशास्त्रोंके सुननेसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो, वह **गृहीतमिथ्यात्व** है। और परके उपदेशादिके बिना ही

पूर्वोपार्जित मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो, वह **अगृहीतमिथ्यात्व** वा **निसर्गजमिथ्यात्व** है। गृहीतमिथ्यात्वके एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व इस प्रकार पांच भेद हैं। वस्तुमें वा पदार्थमें जो अनेक धर्म होते हैं; उन सबको गौणकरके एक ही धर्मको मानकर केवल उसीका श्रद्धान करना **एकांतमिथ्यात्व** है। सग्रंथको निर्ग्रंथ मानना, केवलीको कवलाहार करनेवाला मानना, स्त्रीको मोक्ष मानना, इसप्रकार उलटे श्रद्धानको **विपरीतमिथ्यात्व** कहते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग है कि नहीं,' इस प्रकारके संदेहरूप श्रद्धानको **संशयमिथ्यात्व** कहते हैं। समस्त प्रकारके देवों कुदेवों और समस्त प्रकारके दर्शनोंको एक ही मानना तथा सबकी भक्ति करना **विनयमिथ्यात्व** है। और हिताहितकी परीक्षारहित श्रद्धान करना **अज्ञानमिथ्यात्व** है। षट्कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करना और पांच इंद्रियोंको तथा मनको वशमें नहीं करना, सो बारह प्रकारकी अविरति है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनाशनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्यशुद्धि, इन आठ शुद्धियोंमें तथा दशलक्षणधर्ममें उत्साहरहित परिणाम हो मंदोद्यमी होनेको **प्रमाद** कहते हैं। स्त्रीकथा राजकथा भोजनकथा और देशकथा ये चार विकथाएं, क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय, पांच इंद्रियें, निद्रा और राग इस प्रकार प्रमादके पंद्रह भेद हैं। कषायके क्रोध मान माया लोभ रूप सोलह भेद और हास्य रति अरति आदि नोकषायोंके नौ भेद इस प्रकार सब मिलाकर पचीस **कषाय** हैं। चार मनोयोग, चार वाग्योग और सात काययोग, ऐसे पंद्रह **योग** हैं। इन सबसे अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति

प्रमाद, कषाय और योगोंसे शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता है ॥ १ ॥

अब बंधका स्वरूप कहते हैं;—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

अर्थ—(**जीवः**) जीव (**सकषायत्वात्**) कषायसहित होनेसे जो (**कर्मणः**) कर्मोंके (**योग्यान्**) योग्य (**पुद्गलान्**) पुद्गलोंको (**आदत्ते**) ग्रहण करता है (**सः**) सो (**बंधः**) बंध है । समस्त लोकमें पुद्गलोंके परमाणु भरे हैं । उनमें कार्माणवर्गणाके परमाणु भी हर जगह मौजूद हैं यह आत्मा जब मनवचनकायरूप योगोंकेद्वारा सकंप वा कषायसहित होता है, तव वे कार्माणवर्गणाएं कर्मरूप होकर आत्मासे संबंध कर लेती हैं । इसीको कर्मबंध कहते हैं । उस समय कषाय यदि मंद होते हैं. तो कर्मोंका स्थितिबंध व अनुभागबंध मंद होता है और तीव्र होते हैं, तो तीव्र होता है ॥ २ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः[1] ॥ ३ ॥

अर्थ—(**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः**) प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध ये (**तद्विधयः**) उस बंधकी चार विधियां हैं । प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे नीमका स्वभाव कटुक है और गुड़का मीठा है । कर्मोंमें आठप्रकारके स्वभावोंका वा रसोंका पड़ना प्रकृतिबंध है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म हैं । इनमेंसे ज्ञानावरणकी प्रकृति (स्वभाव) आत्माके ज्ञानको आच्छादन करनेकी है । दर्शनावरणकी प्रकृति आत्माके दर्शन अर्थात् ज्ञानके सामान्यावलोकनरूप अंशको आच्छादन करनेकी है । वेदनीयकी प्रकृति आत्मामें सुखदुःख उत्पन्न करनेकी है । मोहनीय कर्ममें मद्य, धतूरे आदिके

---

१ ‘ प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाः ’ ऐसा भी पाठ है ।

समान मोह उत्पन्न करनेकी प्रकृति है। आयुकर्मका स्वभाव आत्माको किसी भी शरीरमें नियमित समय तक अटकानेका है। नामकर्मका स्वभाव आत्माकेलिए नानाप्रकारके शरीर अंगोपांगादि रचनेका है। गोत्रकर्म ऊंच नीच कुलमें उत्पन्न करनेकी प्रकृति रखता है और अंतरायकर्मकी प्रकृति आत्माके वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोगोंमें विघ्न डालनेकी है। कर्ममें इस प्रकारके स्वभाव होनेको **प्रकृतिबंध** कहते हैं। उक्त आठप्रकारकी कर्मप्रकृतियां जो आत्माके प्रदेशोंसे बंधरूप हुई हैं, वे जितने कालतक रहेंगी अर्थात् जितने समयतक अपने स्वभावको नहीं छोड़ेंगी, उतने समयकी मर्यादा जिससे पड़ती है, उसे **स्थितिबंध** कहते हैं। और जिस प्रकार बकरी, गौ, भैंसके दूधमें थोड़ा और अधिक रस होता है, उसी प्रकार कर्मोंसे तीव्र, मध्य और मंद रूप रस (फल) देनेकी शक्ति होनेको **अनुभागबंध** वा **अनुभवबंध** कहते हैं। उक्त आठप्रकारके कर्मोंका आत्माके-प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप संबंध होना **प्रदेशबंध** है। इस प्रकार बंधके चार प्रकार हैं ॥ ३ ॥

अब प्रकृतिबंधके मूल आठ भेद कहते हैं;—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांऽतरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—(**आद्यः**) आदिका बंध अर्थात् प्रकृतिबंध (**ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायाः**) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय, इस तरह आठप्रकार है अर्थात् आठप्रकारके स्वभाववाला है। इनमेंसे ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिकर्म हैं, और शेष चार अघातिकर्म हैं ॥ ४ ॥

अब इन मूलप्रकृतियोंके उत्तरभेद (उत्तरप्रकृतियां) कहते हैं;—

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आठ प्रकारकी जो मूलप्रकृतियां हैं, उनके (**यथाक्रमम्**) क्रमसे (**पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदाः**) पांच, नौ, दो, अट्ठाइस, चार, ब्यालीस, दो और पांच भेद हैं। **भावार्थ**—ज्ञानावरणके पांच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुकर्मके चार, नामकर्मके ब्यालीस, गोत्रकर्मके दो और अंतरायकर्मके पांच भेद हैं ॥ ५ ॥

अब ज्ञानावरणके पांच भेद कहते हैं;—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ऐसे पांच भेद ज्ञानावरणप्रकृतिके हैं। आवरण नाम परदेका वा ढँकनेका अथवा आड़का है। किसी मूर्तिपर कपड़ेका परदा डाल देनेसे जिस तरह उसका आकार नहीं दिखता है, उसी प्रकारसे आत्मामें जो ज्ञानशक्ति है वह ज्ञानावरणकर्मके परदेसे ढँकी रहनेके कारण प्रकट नहीं हो सकती है। यद्यपि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके किंचित् क्षयोपशमसे थोड़ा बहुत ज्ञान सब जीवोंमें रहता है परन्तु बाकीके सब ज्ञानोंको उक्त पांचों प्रकारके कर्म न्यूनाधिक रूपमें ढँके रहते हैं। मतिज्ञानको ढँके, उसको **मतिज्ञानावरण** कहते हैं। श्रुतज्ञानको ढँके, उसे **श्रुतज्ञानावरण** कहते हैं। अवधिज्ञानको आवरण करे, उसे **अवधिज्ञानावरण** कहते हैं। मनःपर्ययज्ञानको आच्छादन करे, उसे

मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। और केवलज्ञानको आच्छादन करे, उसे केवलज्ञानावरण कर्म कहते हैं ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—(चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां) चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार (च) और (निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्राएं मिलकर नौ प्रकृति दर्शनावरणकर्मकी हैं। जिसके आत्मा चक्षुरिंद्रयरहित एकेंद्रिय वा विकलेंद्रिय हो अथवा चक्षुरिंद्रयसहित पंचेंद्रिय हो, तो भी उसके नेत्रोंमें देखनेकी सामर्थ्य न हो अर्थात् अंध, काना वा न्यूनदृष्टि हो, उसे चक्षुर्दर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। जिसके उदयसे चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंसे दर्शन (सामान्यज्ञान) न हो, उसे अचक्षुर्दर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। अवधिदर्शनसे जो सामान्य अवलोकन होता है, उसको आच्छादन करनेवाली अवधिदर्शनावरणप्रकृति है। केवलदर्शनद्वारा जो समस्त दर्शन नहीं होने देती है, उसे केवलदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। मद खेद ग्लानि दूर करनेके लिए जो नींद ली जाती है, सो निद्रादर्शनावरणप्रकृति है। निद्रापर निद्रा आना निद्रानिद्रा-दर्शनावरणप्रकृति है। निद्रानिद्रादर्शनावरणके उदयसे ऐसी निद्रा आती है कि जीव नेत्रोंको उघाड़ नहीं सकता है। और जिसके शोक खेद मदादिकके कारण बैठे बैठे ही शरीरमें विकार उत्पन्न होकर पांचों इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव हो जाय, उसे प्रचलादर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। इसके उदयसे जीव नेत्रोंको कुछ उघाड़े

हुए ही सोजाता है, अर्थात् सोता सोता भी कुछ जानता है, बैठा बैठा ही घूमने लग जाता है, नेत्र गात्र चलाया करता है और देखते हुए भी कुछ नहीं देखता है। जिसके उदयसे मुखसे लाला (लार) बहने लग जाय, अंग उपांग चलायमान होते रहें, सुई आदि चुभानेसे भी चेत न होवे, उसे **प्रचलाप्रचलादर्शनावरणप्रकृति** कहते हैं। जिस निद्राके आनेपर मनुष्य चैतन्यसा होकर अनेक रौद्रकर्म कर लेता है और फिर बेहोश हो जाता है तथा निद्रा छूटनेपर उसे मालूम नहीं रहता है कि मैंने क्या क्या काम कर डाले, उसे **स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणप्रकृति** कहते हैं। इस प्रकार दर्शनावरणप्रकृतिके नौ भेद हैं ॥ ७ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ—(**सदसद्वेद्ये**) वेदनीयकर्म सत् और असत् भेदसे दो प्रकारका है। अर्थात् एक सातावेदनीय। जिसके उदयसे शारीरिक मानसिक अनेक प्रकार सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे **सातावेदनीय** कहते हैं और जिसके उदयसे दुःखदायक सामग्रीकी प्राप्ति हो उसे **असातावेदनीय** कहते हैं ॥ ८ ॥

अब मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंको कहते हैं:—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाअनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ—(**दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः**) दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय

ये चार मोहनीयकर्म क्रमसे (**त्रिद्विनवषोडशभेदाः**) तीन, दो, नौ और सोलह प्रकारके हैं। जिनमेंसे दर्शनमोहनीय (**सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि**) सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व तीन प्रकारका है। और चारित्रमोहनीय (**अकषायकषायौ**) अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ऐसे दो प्रकारका है। फिर इनमेंसे अकषायवेदनीय तो (**हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः**) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है। (च) और कषायवेदनीय (**अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलविकल्पाः**) अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदोंसहित (**क्रोधमानमायालोभाः**) क्रोध मान माया और लोभ रूप सोलह प्रकारका होता है।

भावार्थ—मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमेंसे दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रमोहनीय ये तीन और चारित्रमोहनीयके अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद हैं। अकषायवेदनीय[1] हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नौ प्रकारका है। और कषायवेदनीय—१ अनंतानुबंधीक्रोध, २ अप्रत्याख्यानक्रोध, ३ प्रत्याख्यानक्रोध, ४ संज्वलनक्रोध, ५ अनंतानुबंधीमान, ६ अप्रत्याख्यानमान, ७ प्रत्याख्यानमान, ८ संज्वलनमान, ९ अनंतानुबंधीमाया, १० अप्रत्याख्यानमाया, ११ प्रत्याख्यानमाया, १२ संज्वल-

---

१ किंचित्कषायको **ईषत्कषाय** वा **नोकषाय** वा **अकषायवेदनीय** कहते हैं। जो आत्माको कषे-क्लेशित करे, उसे **कषाय** कहते हैं। यहाँ 'अकषाय' शब्दका अर्थ कषायरहित नहीं है, किन्तु किंचित् कषाय है।

नमाया, १३ अनंतानुबंधीलोभ, १४ अप्रत्याख्यानलोभ, १५ प्रत्याख्यानलोभ और १६ संज्वलनलोभ ऐसे सोलह प्रकारका है।

जिसके उदयसे सर्वज्ञभाषित मार्गसे पराङ्मुखता और तत्त्वार्थश्रद्धानमें निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता होती है, वह **मिथ्यात्वप्रकृति** है। जिस प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका मूल नाश तो न हो फिर चलमलिनादि दोष पैदा हो जावें, वह **सम्यक्त्वप्रकृति** है। और जिसके उदयसे तत्त्वोंका श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव दही गुड़के मिले हुए स्वादके समान मिले हुए होते हैं, उसे **सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति** कहते हैं। ये तीनों ही प्रकृतियां आत्माके सम्यक्त्वभावको घात करनेवाली हैं।

जिसके उदयसे हँसी आवे, उसे **हास्यप्रकृति** कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता वा आसक्तता हो, सो **रति** है। रतिसे उलटी **अरति** है। जिसके उदयसे सोच वा चिंता हो, सो **शोक** है। जिसके उदयसे उद्वेग हो, सो **भय** है। जिसके उदयसे अपने दोषोंका आच्छादन करना और अन्यके कुल शीलादिकमें दोष प्रगट करना हो, अथवा अवज्ञा, तिरस्कार वा ग्लानिरूप भाव हो, सो **जुगुप्सा** है। जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो; सो **स्त्रीवेद** है; स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो; सो **पुरुषवेद** है। और स्त्रीपुरुष दोनोंसे रमनेके भाव हों, सो **नपुंसकवेद**[1] है।

---

१ स्त्री, पुरुष और नपुंसकोंके शरीरमें गुप्त अंगोंकी रचना तो नामकर्मके उदयसे होती है और रमनेकी इच्छा वेदकर्मके उदयसे होती है।

कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं। जिनमेंसे क्रोध, मान, माया और लोभ चार मुख्य हैं। जिसके उदयसे अपने और परके घात करनेके परिणाम हों तथा परके उपकार करनेके अभावरूप भाव वा क्रूरभाव हों, सो क्रोध है। और जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप और ज्ञानादिकके गर्वसे उद्धतरूप तथा अन्यसे नम्रीभूत न होनेरूप परिणाम, सो **मान** है। अन्यको ठगनेकी इच्छासे जो कुटिलता की जाती है, सो **माया** है और अपने उपकारक द्रव्योंमें जो अभिलाषा होती है, सो **लोभ** है। इन चारोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतर ऐसे चार चार भेद हैं। अनंत संसारका कारण जो मिथ्यात्व है उसके साथ ही रहनेवाले परिणामोंको **अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ** कहते हैं। अप्रत्याख्यानको अर्थात् थोड़े त्यागको जो आवरण करें—रोकें, उन परिणामोंको **अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभ** कहते हैं। और प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व त्यागको जो आवरण करे अर्थात् महाव्रत नहीं होने देवें ऐसे परिणामोंको **प्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभ** कहते हैं। और जो संयमके साथ भी प्रकाशमान् रहें अथवा जिनके होनेपर संयम भी प्रकाशमान् हुआ करे—बाधा नहीं करें: ऐसे क्रोध मान माया लोभ रूप परिणामोंको **संज्वलन क्रोधमानमायालोभ** कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येकके चार चार भेद होनेसे कषायवेदनीयकी सोलह प्रकृति हो गई। उनमें नौ अकषायवेदनीयकी और तीन दर्शनमोहनीयकी मिलानेसे मोहनीय कर्मकी अट्ठाइस प्रकृति हुई। दर्शनमोहकी तीन प्रकृति और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार, इस तरह सात प्रकृति सम्यक्त्वका घात करती हैं। इनके उदय रहते सम्यक्त्व नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानरूप क्रोध, मान, माया, लोभके उदय रहते श्रावकके व्रत नहीं होते हैं। प्रत्याख्यान चौकड़ीके उदय रहते महाव्रत नहीं होते हैं और संज्वलन चौकड़ीके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं होता है॥ ९ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते है:—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु इसतरह चार आयुकर्मकी प्रकृति हैं। जिसके सद्भावसे आत्मा नरकादि गतियोंमें जीवे और अभावसे मरणको प्राप्त हो जाय, उसको **आयुकर्म** कहते हैं॥ १०॥

अब नामकर्मकी ब्यालीस प्रकृति कहते हैं:—

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥

अर्थ—(गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः) गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इकीस तथा (प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशः कीर्तिसेतराणि) प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर,

शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनकी उलटी साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, वादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशस्कीर्ति ये दश (च) और (तीर्थकरत्वं) तीर्थंकरत्व, इस प्रकार व्यालीस प्रकृति हैं ॥ ११ ॥

१ जिसके उदयसे आत्मा भवांतरके प्रति सम्मुख होकर गमनको प्राप्त होता है, सो **गतिनामकर्म** है। यह **चार प्रकार** है–१ नरकगति, २ तिर्यंचगति, ३ देवगति और ४ मनुष्यगति। जिसके उदयसे आत्मा नरकमें जावे, उसको नरकगतिनामकर्म; जिसके उदयसे तिर्यंचयोनिमें जाय, उसे तिर्यग्गति नामकर्म; जिसके उदयसे मनुष्य जन्मको प्राप्त हो, उसे मनुष्यगति नामकर्म और जिसके उदयसे देवपर्यायको प्राप्त हो, उसे देवगति नामकर्म कहते हैं।

२ उक्त नरकादि गतियोंमें जो अविरोधी समानधर्मोंसे आत्माको एकरूप करता है, सो **जातिनामकर्म** है। उसके **पांच भेद** हैं— १ एकेन्द्रियजातिनामकर्म, २ द्वींद्रियजातिनामकर्म, ३ त्रींद्रियजातिनामकर्म, ४ चतुरिंद्रियजातिनामकर्म और ५ पंचेंद्रियजातिनामकर्म। जिसके उदयसे आत्मा एकेंद्रियजाति होय, उसे एकेंद्रियजाति नामकर्म, जिसके उदयसे द्वींद्रियजाति हो, उसे द्वींद्रियजाति; जिसके उदयसे त्रींद्रियजाति हो, उसे त्रींद्रियजाति; जिसके उदयसे चतुरिंद्रियजाति हो, उसे चतुरिंद्रियजाति और जिसके उदयसे पंचेंद्रियजाति हो, उसे पंचेंद्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

३ जिसके उदयसे शरीरकी रचना होती है, उसे **शरीरनामकर्म** कहते हैं। शरीर नामकर्म भी **पांच प्रकारका** है–१ औदारिकशरीर, २ वैक्रियिकशरीर, ३ आहारकशरीर, ४ तैजसशरीर और ५ कार्माण-

शरीर। जिसके उदयसे औदारिकशरीरकी रचना हो, वह औदारिक-शरीर; जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरकी रचना हो, वह वैक्रियिकशरीर; जिसके उदयसे आहारकशरीरकी रचना हो, वह आहारकशरीर; जिसके उदयसे तैजसशरीरकी रचना हो, वह तैजसशरीर और जिसके उदयसे कार्माणशरीरकी रचना हो, वह कार्माणशरीर नामकर्म है।

४ जिसके उदयसे अंग उपांगोंका भेद प्रगट हो, उसको **अंगोपांगनामकर्म** कहते हैं। मस्तक, पीठ, हृदय[1], बाहु, उदर, जांघ, हाथ और पांव इनको तो अंग कहते हैं और इनके सिवाय ललाट नासिकादि भागोंको उपांग कहते हैं। अंगोपांग नामकर्म **तीन प्रकारका** है;–१ औदारिकशरीरांगोपांग, २ वैक्रियिकशरीरांगोपांग और ३ आहारक-शरीरांगोपांग।

५ जिसके उदयसे अंग उपांगोंकी उत्पत्ति हो, उसे **निर्माणनामकर्म** कहते हैं। निर्माण नामकर्म **दो प्रकारका** है;–१ स्थाननिर्माण, २ प्रमाणनिर्माण। जातिनामा नामकर्मके उदयसे जो नाक कान आदिको योग्य स्थानमें निर्माण करता है, सो तो स्थाननिर्माण नामकर्म है और जो उन्हें योग्य लम्बाई-चौड़ाई आदिका प्रमाण लिए रचना करता है, सो प्रमाणनिर्माण है।

६ जिसके उदयसे शरीरनामकर्मके वशसे ग्रहण किये हुए आहार-वर्गणाके पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका मिलना हो, वह **बंधननामकर्म** है। बंधन नामकर्म **पांच प्रकारका** है;—१ औदारिकबंधननामकर्म, २ वैक्रियिकबंधननामकर्म, ३ आहारकबंधननामकर्म, ४ तैजसबंधननाम-

---

१ 'गोम्मटसार' में हृदयकी जगह नितम्ब और जंघाओंकी जगह पांव तथा दोनों जंघाएं और दोनों भुजाएं कही हैं। बाहुमें हाथका समावेश किया है।

कर्म और ५ कार्माणबंधननामकर्म । जिसके उदयसे औदारिकबंध हो, सो औदारिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे वैक्रियिकबंध हो, वह वैक्रियिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे आहारकबंध हो, वह आहारकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे तैजसबंध हो, वह तैजस-बंधन नामकर्म है और जिसके उदयसे कार्माणबन्ध हो, वह कार्माण-बंधन नामकर्म है ।

७ जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंका छिद्ररहित अन्योन्य-प्रदेशानुप्रवेशरूप संघटन (एकता) हो, उसे **संघातनामकर्म** कहते हैं । संघात भी १ औदारिकसंघात, २ वैक्रियिकसंघात, ३ आहारक-संघात, ४ तैजससंघात और ५ कार्माणसंघात भेदसे **पांच प्रकारका** है । जिसके उदयसे औदारिकशरीरमें छिद्ररहित संधियां (जोड़) हों, वह औदारिकसंघात है । जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरमें संघात हो, वह वैक्रियिकसंघात है । जिसके उदयसे आहारकशरीरमें संघात हो, वह आहारकसंघात है । जिसके उदयसे तैजसशरीरमें संघात हो, वह तैजस-संघात है और जिसके उदयसे कार्माणशरीरमें संघात हो, वह कार्माण-संघात है ।

८ जिसके उदयसे शरीरकी आकृति (आकार) उत्पन्न हो, उसे **संस्थाननामकर्म** कहते हैं । यह छह **प्रकारका** है;–१ समचतुरस्र-संस्थान नामकर्म, २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, ३ स्वातिसंस्थान नामकर्म, ४ कुब्जकसंस्थान नामकर्म, ५ वामनसंस्थान नामकर्म और ६ हुंडकसंस्थान नामकर्म । जिसके उदयसे ऊपर, नीचे और मध्यमें समान विभागसे शरीरकी आकृति उत्पन्न हो उसे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरका नाभिके नीचेका भाग वटवृक्षके समान पतला हो और ऊपरका स्थूल व मोटा हो, वह न्यग्रोधपरिमंडल-

संस्थान नामकर्म है। जिसके उदयसे शरीरके नीचेका भाग स्थूल या मोटा हो और ऊपरका पतला हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे पीठके भागमें बहुतसे पुद्गलोंका समूह हो अर्थात् कुबड़ा शरीर हो, उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे शरीर बहुत छोटा हो, वह वामनसंस्थान नामकर्म है। और जिसके उदयसे शरीरके अंग उपांग कहींके कहीं, छोटे बड़े वा संख्यामें न्यूनाधिक हो, इस तरह विषम बेडौल आकारका शरीर हो, उसे हुंडकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

९ जिसके उदयसे शरीरके अस्थिपंजरादिके (हाड़ वगैरहके) बंधनोंमें विशेषता हो, उसे **संहनननामकर्म** कहते हैं। वह **छह प्रकारका** है;—१ वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म, २ वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, ३ नाराचसंहनन नामकर्म, ४ अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म, ५ कीलक संहनन नामकर्म और ६ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नामकर्म। नसोंसे हाड़ोंके बंधनेका नाम ऋषभ वा वृषभ है, नाराच नाम कीलनेका है और संहनन नाम हाड़ोंके समूहका है। सो जिस कर्मके उदयसे वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और संहनन (अस्थिपंजर) ये तीनों ही वज्रके समान अभेद्य हों, उसे वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे नाराच और संहनन तो वज्रमय हों और वृषभ सामान्य हो, वह वज्रनाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ तथा संधियोंके कीलें तो हों, परंतु वे वज्रमय न हों और वज्रमय वेष्टन भी न हो, सो नाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां अर्द्धकीलित हों, अर्थात् कीले एक तरफ तो हों दूसरी तरफ न हों; वह अर्द्ध-

नाराचसंहनन नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों, सो कीलकसंहनन नामकर्म है। और जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां कीलित तो न हों, किंतु नसों, स्नायुओं और मांससे बंधी हों, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म है।

१० जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शगुण प्रकट होता है, उसे **स्पर्शनामकर्म** कहते हैं। यह **आठ प्रकारका** है;—१ कर्कशस्पर्श नामकर्म २ मृदुस्पर्श नामकर्म, ३ गुरुस्पर्श नामकर्म, ४ लघुस्पर्श नामकर्म, ५ स्निग्धस्पर्श नामकर्म, ६ रूक्षस्पर्श नामकर्म, ७ शीतस्पर्श नामकर्म और ८ उष्णस्पर्श नामकर्म।

११ जिसके उदयसे देहमें रस (स्वाद) उत्पन्न हो, उसे **रस-नामकर्म** कहते हैं। यह **पांच प्रकारका** है;—१ तिक्तरस नामकर्म, २ कटुरस नामकर्म, ३ कषायरस नामकर्म, ४ आम्लरस नामकर्म, और ५ मधुररस नामकर्म।

१२ जिसके उदयसे शरीरमें गंध प्रगट हो, सो **गंधनामकर्म** है। यह **दो प्रकारका** है। एक सुगंध नामकर्म, दूसरा दुर्गंध नामकर्म।

१३ जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण (रंग) उत्पन्न हो, उसे **वर्णनामकर्म** कहते हैं। यह **पांच प्रकारका** हैं;—१ शुक्लवर्ण नामकर्ण, २ कृष्णवर्ण नामकर्म, ३ नीलवर्ण नामकर्म, ४ रक्तवर्ण नामकर्म और ५ पीतवर्ण नामकर्म।

१४ पूर्वायुके उच्छेद होनेपर पूर्वके निर्माण नामकर्मकी निवृत्ति होनेपर विग्रहगतिमें जिसके उदयसे मरणसे पूर्वके शरीरके आकारका विनाश नहीं हो, उसे **आनुपूर्व्य नामकर्म** कहते हैं। इसके **चार**

भेद हैं; १ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, ३ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और ४ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म। जिस समय मनुष्य व तिर्यंचकी आयु पूर्ण हो और आत्मा शरीरसे पृथक् होकर नरक भवप्रति जानेको संमुख हो, उस समय मार्गमें जिसके उदयसे आत्माके प्रदेश पहले शरीरके आकारके रहते हैं, उसको **नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** कहते हैं। इस कर्मका उदय विग्रहगतिमें ही होता है। इस प्रकार अन्य तीनों भी समझना। इस कर्मका उदयकाल जघन्य एक समय, मध्यम दो समय और उत्कृष्ट तीन समय मात्र है।

१५ जिसके उदयसे जीवोंको शरीर लोहपिंडके समान भारीपनके कारण नीचे नहीं पड़ जाता है, और आककी रूईके समान हलकेपनसे उड़ भी नहीं जाता है, उसको **अगुरुलघु नामकर्म** कहते हैं। यहांपर शरीरसहित आत्माके संबंधमें अगुरुलघु कर्मप्रकृति मानी गई है। और द्रव्योंमें जो अगुरुलघुत्व है, वह स्वाभाविक गुण है।

१६ जिसके उदयसे शरीरके अवयव ऐसे होते हैं कि उनसे उसीका बंधन वा घात हो जाता है, उसे **उपघातनामकर्म** कहते हैं।

१७ जिसके उदयसे पैने सींग नख वा डंक इत्यादि परको घात करनेवाले अवयव होते हैं, उसको **परघातनामकर्म** कहते हैं।

१८ जिसके उदयसे आतापकारी शरीर होता है, वह **आतपनामकर्म** है। इस कर्मका उदय सूर्यके विमानमें जो वादर पर्याप्त जीव पृथिवीकायिक मणिस्वरूप होते हैं, उनके ही होता है, अन्यके नहीं होता।

१९ जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर होता है, सो **उद्योत**-

नामकर्म है। इसका उदय चंद्रमाके विमानके, पृथ्वीकायिक जीवोंके तथा आगिया (पटवीजना जुगनू) आदि जीवोंके होता है।

२० जिसके उदयसे शरीरमें उच्छ्वास उत्पन्न हों, सो **उच्छ्वासनामकर्म** है।

२१ जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो, उसे **विहायोगतिनामकर्म** कहते हैं। यह **दो प्रकारका** है। जो हाथी बैल आदिकी गतिके समान सुंदर गमनका कारण होता है, वह तो **प्रशस्तविहायोगति** नामकर्म है। और जो ऊँट गर्दभादिकके समान असुंदर गमनका कारण होता है, सो **अप्रशस्तविहायोगति** नामकर्म है। मुक्त होनेपर जीवके तथा चेतनारहित पुद्गलके जो गति होती है, वह स्वाभाविक गति है, उसमें कर्म कारण नहीं है।

२२ जिसके उदयसे एक शरीर एक आत्माके भोगनेका कारण हो, उसे **प्रत्येकशरीर नामकर्म** कहते हैं।

२३ जिसके उदयसे एक शरीर बहुतसे जीवोंके उपभोगनेका कारण हो, उसे **साधारणशरीरनामकर्म** कहते हैं। जिन अनंत जीवोंके आहारादि चार पर्याप्ति, जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, उपकार और अपघात, एक और एकही कालमें होते हैं, वे **साधारण जीव** हैं। जिस कालमें जिस आहारादि पर्याप्ति जन्म मरण श्वासोच्छ्वासको एक जीव ग्रहण करता है, उसी कालमें उसी पर्याप्ति आदिको दूसरे भी अनंत जीव ग्रहण करते हैं। ये साधारण जीव वनस्पतिकायमें होते हैं, अन्य स्थावरोंमें नहीं होते। इनके साधारणशरीरनामकर्मका उदय रहता है।

२४ जिसके उदयसे आत्मा द्वींद्रियादिक शरीर धारण करता है, सो **त्रसनामकर्म** है।

२५ जिसके उदयसे जीव पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वन-स्पतिकायमें उत्पन्न होता है, सो **स्थावरनामकर्म** है।

२६ जिसके उदयसे अन्यके प्रीति उत्पन्न हो अर्थात् दूसरोंके परिणाम देखते ही प्रीतिरूप हो जावें, सो **सुभगनामकर्म** है।

२७ जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न हो, बुरा मालूम हो, उसे **दुर्भगनामकर्म** कहते हैं।

२८ जिसके उदयसे मनोज्ञ स्वरकी अर्थात् सबको प्यारे लगनेवाले शब्दकी प्राप्ति हो, उसे **सुस्वरनामकर्म** कहते हैं।

२९ जिसके उदयसे अमनोज्ञ स्वरकी प्राप्ति हो, उसे **दुःस्वर-नामकर्म** कहते हैं।

३० जिसके उदयसे मस्तक आदि अवयव सुंदर हों—देखनेमें रमणीक हों, उसे **शुभ नामकर्म** कहते हैं।

३१ जिसके उदयसे मस्तक आदिक अवयव रमणीय नहीं हों, उसे **अशुभनामकर्म** कहते हैं।

३२ जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, जो अन्य जीवोंके उपकार वा घात करनेमें कारण न हो, पृथ्वी जल अग्नि पवन आदिकसे जिसका घात नहीं हो, और जो पहाड़ आदिकमें प्रवेश करते हुए भी नहीं रुके, उसे **सूक्ष्मशरीरनामकर्म** कहते हैं।

३३ जिसके उदयसे अन्यको रोकने योग्य वा अन्यसे रुकने योग्य स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसको **बादरशरीरनामकर्म** कहते हैं।

३४ जिसके उदयसे जीव आहारादि पर्याप्ति पूर्ण करता है, उसे **पर्याप्तिनामकर्म** कहते हैं। पर्याप्ति नामकर्म छह प्रकारका है;— १ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इंद्रियपर्याप्ति; ४ प्राणापानपर्याप्ति; ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनःपर्याप्ति।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणापानपर्याप्ति नामकर्मके उदयका जो उदरसे पवनका निकालना वा प्रवेश होना फल है, वही उच्छ्वास कर्मके उदयका भी है। फिर इन दोनोंमें अंतर क्या हुआ? सो इसका उत्तर यह है कि-इन दोनोंमें इन्द्रिय अतींद्रियका भेद है। अर्थात् पचेंन्द्रिय जीवोंके सर्दी-गर्मीके कारण जो स्वास चलती है और जिसका शब्द सुन पड़ता है, तथा मुंहके पास हाथ ले जानेसे जो स्पर्शसे माळूम होती है, वह तो उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होती है और जो समस्त संसारी जीवोंके होती है और जो इन्द्रियगोचर नहीं होती है, वह प्राणापानपर्याप्तिके उदयसे होती है। एकेंद्रिय जीवोंके भाषा और मनको छोड़कर चार; द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और असैनी पचेंद्रिय जीवोंके भाषासहित पांच और सैनी पचेंद्रियके छहों पर्याप्ति होती हैं।

३५ जिसके उदयसे जीव छहों पर्याप्तियोंमेंसे एकको भी पूर्ण नहीं कर सके, उसे **अपर्याप्तिनामकर्म** कहते हैं।

३६ जिसके उदयसे रसादिक सात धातुएं और उपधातुएं अपने अपने स्थानमें स्थिरताको प्राप्त हों, दुष्कर उपवासादिक तपश्चरणसे भी उपांगोंमें स्थिरता रहे-रोग नहीं होवे, उसे **स्थिरनामकर्म** कहते हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा और वीर्य ये सात धातुएं हैं। वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ये सात उपधातुएं हैं।

३७ जिसके उदयसे किंचित् उपवासादिक करनेसे तथा किंचिन्मात्र सर्दी-गर्मी लगनेसे अंगोपांग कृश हो जायँ, धातु-उपधातुओंकी स्थिरता नहीं रहे, रोग हो जावें, उसे **अस्थिरनामकर्म** कहते हैं।

३८ जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो, उसे **आदेयनामकर्म** कहते हैं।

३९ जिसके उदयसे शरीर प्रभारहित हो, वह **अनादेयनामकर्म** है।

४० जिसके उदयसे पुण्यरूप गुणोंकी ख्याति—प्रसिद्धि हो, उसे **यशःकीर्तिनामकर्म** कहते हैं।

४१ जिसके उदयसे पापरूप गुणोंकी ख्याति हो, उसे **अयशःकीर्तिनामकर्म** कहते हैं।

४२ जिस प्रकृतिके उदयसे अचिंत्यविभूतिसंयुक्त तीर्थंकरपनेकी प्राप्ति हो, उसे **तीर्थंकरत्वनामकर्म** कहते हैं।

इस प्रकार नामकर्मकी ब्यालीस प्रकृतियाँ हैं और इनके अवांतर भेदोंको जोड़नेसे सब त्र्यानवे हो जाती हैं। इनमें पहली चौदह प्रकृयोंको **पिंड** (भेदवाली) **प्रकृति** कहते हैं ॥ ११ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—(**उच्चैः**) उच्चगोत्र (**च**) और (**नीचैः**) नीचगोत्र ऐसी दो प्रकृतियां गोत्रकर्मकी हैं। जिसके उदयसे लोकपूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलोंमें जन्म हो, उसे **उच्चगोत्रकर्म** कहते हैं। और जिसके उदयसे निंद्य दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखोंसे आकुलित चांडालादिके कुलमें जन्म हो, उसे **नीचगोत्रकर्म** कहते हैं ॥ १२ ॥

अब अंतराय कर्मकी पांच प्रकृतियोंको कहते हैं:—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

१ यहां ' यश ' शब्दका अर्थ उत्तम गुण, और ' कीर्ति ' शब्दका अर्थ उनकी ख्याति (प्रशंसा) है।

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पांच शक्तियोंमें विघ्न करनेवाला अर्थात् उन्हें रोकनेवाला पांच प्रकारका अंतराय कर्म है। जीव जिसके उदयसे देना चाहे, तो भी दान नहीं कर सके, उसे **दानांतरायकर्म** कहते हैं। इच्छा करते हुए भी जिसके उदयसे लाभ नहीं हो सके, उसे **लाभांतरायकर्म** कहते हैं। जीव जिसके उदयसे भोग किया चाहे, तथापि भोगनेमें समर्थ न हो, उसे **भोगांतरायकर्म** कहते हैं। जिसके उदयसे उपभोग करनेमें समर्थ न हो, उसे **उपभोगांतरायकर्म** कहते हैं। जिसके उदयसे शरीरमें सामर्थ्य प्राप्त न हो, उसे **वीर्यांतरायकर्म** कहते हैं। गंध, अत्तर, पुष्प, स्नान, तांबूल, अंगराग, भोजन, पान आदिक जो एक ही वार भोगे जाते हैं, वे **भोग** हैं और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, हाथी, घोड़ा आदि जो वारंवार भोगनेमें आते हैं, वे **उपभोग** हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंके बंधके भेद वतलाये गये। अव स्थितिबंधको कहते हैं। कर्म अपने स्वभावको छोड़कर जितने कालतक आत्मासे जुदा नहीं होते हैं उतने कालतक उनके आत्माके साथ बँधे रहनेको **स्थितिबंध** कहते हैं। स्थितिबंध दो प्रकारका है, एक **जघन्य स्थितिबंध** और दूसरा **उत्कृष्ट स्थितिबंध**। इनमेंसे पहले सब कर्मोंका उत्कृष्ट स्थितिबंध कहते हैं:—

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—(**आदितः**) आदिके (**तिसृणाम्**) तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्मकी (**च**) और

(अंतरायस्य) अंतराय कर्मकी (परा स्थितिः) उत्कृष्ट स्थिति (त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः) तीस कोड़कोड़ी सागरकी है। इस उत्कृष्ट स्थितिका वंध मिथ्यादृष्टी संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक जीवोंके होता है ॥ १४ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—(मोहनीयस्य) मोहनीयकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (सप्ततिः) सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १५ ॥

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (विंशतिः) वीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ—(आयुषः) आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि) तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

अब कर्मोंकी जघन्य (कमसे कम) स्थिति वतलाते हैं:—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—(वेदनीयस्य) वेदनीकर्मकी (अपरा) जघन्य स्थिति द्वादशमुहूर्ताः) बारह मुहूर्तकी[1] है ॥ १८ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति (अष्टौ) आठ मुहूर्तकी है ॥ १९ ॥

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

अर्थ—(शेषाणाम्) बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय,

---

१ दो घड़ीका अथवा अड़तालीस मिनिटका एक मुहूर्त होता है।

अंतराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति (अंतर्मुहूर्ता) अंतर्मुहूर्त[1] है ॥ २० ॥

इस प्रकार स्थितिबंध कहा गया। अब अनुभागबंधका वर्णन करते हैं:—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—(विपाकः) कर्मोंका जो विपाक है अर्थात् उनमें जो फलदान शक्तिका पड़ जाना और उदयमें आकर अनुभव होने लगना है, सो (अनुभवः) अनुभव वा अनुभाग है। **भावार्थ**—तीव्र मंद कषायरूप जिस प्रकारके भावोंसे कर्मोंका आस्रव हुआ है, उनके अनुसार कर्मोंकी फलदायक शक्तिका तीव्रता मंदता होनेको अनुभागबंध कहते हैं ॥ २१ ॥

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—(सः) वह अनुभागबंध (**यथानाम**) कर्मकी प्रकृतियोंके नामानुसार होता है। **भावार्थ**—प्रकृतियोंका जैसा नाम है, वैसा ही उनका अनुभव होता है। जैसे ज्ञानावरणका फल ज्ञानका आवरण करना है और दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको रोकना है। इसी प्रकार मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियोंमें जिसका जैसा नाम है उनमें वैसी ही फलदानशक्ति और वही अनुभव है ॥ २२ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—(ततः) उस अनुभवके पश्चात् उन कर्मोंकी (**निर्जरा**) निर्जरा हो जाती है। अर्थात् जो कर्म हैं सो फल देकर आत्मासे पृथक्

---

[1] एक मुहूर्तके अर्थात् अड़तालीस मिनिटके भीतरके समयको अंतर्मुहूर्त कहते हैं।

हो जाते हैं। यह निर्जरा दो प्रकारकी है। एक सविपाक निर्जरा है। कर्मोंका उदयकाल आनेपर रस देकर अपने आप झड़ जाना **सविपाकनिर्जरा** है। यह सविपाकनिर्जरा चारों गतिमें रहनेवाले समस्त संसारी जीवोंके हुआ करती है। और कर्मोंके उदयकालके आये बिना ही उन्हें तपश्चरणादि करके अनुदय अवस्थामें ही झड़ा देना **अविपाकनिर्जरा** है। यहां सूत्रमें '**च**' आया है, सो आगे जो "**तपसा निर्जरा च**" सूत्र कहेंगे, उस अर्थका संग्रह करनेके लिए है ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंध कहते हैं:—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(**नामप्रत्ययाः**) ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी प्रकृतियोंके कारणभूत और (**सर्वतः**) समस्त भावोंमें वा सब समयोंमें (**योगविशेषात्**) मनवचनकायकी क्रियारूप योगोंसे (**सर्वात्मप्रदेशेषु**) आत्माके समस्त प्रदेशोंमें (**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः**) सूक्ष्म तथा एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित जो (**अनंतानंतप्रदेशाः**) अनंतानंत कर्मपुद्गलोंके प्रदेश हैं, उनको प्रदेशबंध कहते हैं। **भावार्थ**—आत्माके योगविशेषोंके द्वारा त्रिकालमें बंधनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके कारणभूत, तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्मरूप परिणमने योग्य, सूक्ष्म और जिस क्षेत्रमें आत्मा ठहरा हो उसी क्षेत्रको अवगाह कर ठहरनेवाले ऐसे, अनंतानंत प्रदेशरूप पुद्गलस्कंधोंको प्रदेशबंध कहते हैं ॥ २४ ॥

बंध पदार्थके अंतर्भूत पुण्यबंध और पापबंध भी हैं, इसलिए अब पुण्यप्रकृतियोंको कहते हैं;—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—(सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि) सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये (पुण्यम्) पुण्यरूप प्रकृतियां हैं। आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको घातियाकर्म कहते हैं। ये चारों कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंका घात करते हैं, इस कारण इनको **घातियाकर्म** कहते हैं। और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म आत्माके गुणोंका घात नहीं करते, इस कारण इनको **अघातियाकर्म** कहते हैं। घातियाकर्म तो चारों ही अशुभ (पाप) रूप हैं। परन्तु अघातिया पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। उनकी अड़सठ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं। वे इस प्रकार हैं;—१ सातावेदनीय, २ तिर्यंचायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु और ५ उच्चगोत्र ये पांच, और नामकर्मकी १ मनुष्यगति, २ देवगति, ३ पंचेंद्रियजाति, ४ निर्माण, ५ समचतुरस्रसंस्थान, ६ वज्रर्षभनाराच संहनन, ७ मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८ देवगत्यानुपूर्वी, ९ अगुरुलघु, १० परघात, ११ उच्छ्वास, १२ आतप, १३ उद्योत, १४ प्रशस्तविहायोगति, १५ प्रत्येकशरीर, १६ त्रस, १७ सुभग, १८ सुस्वर, १९ शुभ, २० बादर, २१ पर्याप्ति, २२ स्थिर, २३ आदेय, २४ यशःकीर्ति, २५ तीर्थकरत्व, और २६–३० पांच शरीर, ३१–३३ तीन अंगोपांग, ३४–३८ पांच बंधन, ३९–४३ पांच संघात, ४४–५१ आठ प्रशस्त स्पर्श[१],

---

१ स्पर्शादिक वीस प्रकृतियां प्रशस्तरूप और अप्रशस्तरूप भी है। प्रशस्त तो पुण्यप्रकृतिमें और अप्रशस्त पापप्रकृतिमें ग्रहण की हैं। जैसे नीमके पत्तेका कटुकरस ऊंटको अच्छा लगता है पर मनुष्यादिकोंको बुरा लगता है। इसी प्रकार रूप वगैरहके भी दृष्टांत समझ लेना चाहिए।

५२-५६ पांच प्रशस्त रस, ५७-५८ दो गंध, और ५९-६३ पांच प्रशस्त वर्ण ॥ २५ ॥

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—(अतः) उक्त अड़सठ प्रकृतियोंसे (अन्यत्) और अर्थात् बाकीकी कर्मप्रकृतियां (पापम्) पापरूप—अशुभ हैं । अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी अट्ठाईस, अंतरायकी पांच, असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नामकर्मकी पचास (जिनमें स्पर्शादि बीस अप्रशस्त भी हैं) नरकगति, तिर्यग्गति, एकेंद्रियादि जाति चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य; उपघात; अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अशुभ, दुर्भग, अस्थिर, दुःस्वर, अनादेय और अशयःकीर्ति इस प्रकार मिलकर एक सौ प्रकृति अशुभरूप वा पापप्रकृति हैं ॥२६॥

इति श्रीमदुस्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवम अध्याय

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—(**आस्रवनिरोधः**) आस्रवोंका निरोध करना सो (**संवरः**) संवर है । अर्थात् कर्मोंके आनेके निमित्तरूप मन वचन काय योगोंके तथा मिथ्यात्व और कषायादिकोंके निरोध होनेसे अनेक सुख दुःखोंके कारणरूप कर्मोंकी प्राप्तिका अभाव होना, **संवर** है । संवर दो प्रकारका है—एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर । पुद्गलमय कर्मोंके

आस्रवका रुकना, द्रव्यसंवर है। और द्रव्यमय आस्रवोंके रोकनेमें कारणरूप आत्माके भावोंका होना, भावसंवर है ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः २

अर्थ—(सः) वह संवर (**गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषह-जयचारित्रैः**) तीन गुप्तियोंसे, पांच समितियोंसे, वारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे, वाईस परीपहोंके जीतनेसे और पांचप्रकारके चारित्र पालनेसे इस प्रकार छह कारणोंसे होता है। संसारमें रुलानेवाले प्रवृत्तिरूप भावोंसे आत्माकी रक्षा करनेको अर्थात् उनके न होने देनेको **गुप्ति** कहते हैं। किसी जीवको कुछ पीड़ा न हो जाय, इस विचारसे यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करनेको **समिति** कहते हैं। अपने इष्ट-सुखके स्थानमें जो धरे वा पहुंचा देवे, उसे **धर्म** कहते हैं। शरीरादि परद्रव्योंके और आत्माके स्वरूपके चिंतवन करनेको **अनुप्रेक्षा** कहते हैं। क्षुधा तृषादिकी वेदना उत्पन्न होनेपर उसे कर्मोंकी निर्जराके लिए क्लेशरहित परिणामोंसे सह लेनेको **परीषहजय** कहते हैं। और संसार परिभ्रमणकी कारणरूप क्रियाओंके त्याग करनेको **चारित्र** कहते हैं ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—(**तपसा**) वारहप्रकारके तप करनेसे (**निर्जरा**) निर्जरा (च) और संवर दोनों होते हैं। यद्यपि दशप्रकारके धर्मोंमें तप आगया है, परंतु समस्त प्रकारके संवरोंका तप एक प्रधान कारण है, इसलिए इसको भिन्न कहा है। तपके प्रभावसे नये कर्मोंका संवर (निरोध) होता है और सत्तामें रहनेवाले प्राचीन वंधनरूप कर्मोंकी निर्जरा होती है। यद्यपि तपका फल स्वर्गकी वा राज्यादिककी प्राप्ति होना भी है, परंतु प्रधानतासे समस्त कर्मोंका क्षय करके आत्माको

मुक्त करना ही इसका फल है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना ही है, किंतु गौणतासे उसमें पयाल आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ---(सम्यक्) भले प्रकार (योगनिग्रहः) मन वचन कायकी यथेच्छ प्रवृत्तिको रोकना सो (गुप्तिः) गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं। मनोयोगको रोकना सो **मनोगुप्ति** है। वचनयोगको रोकना सो **वाग्गुप्ति** है और काययोगको रोकना सो **कायगुप्ति** है ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ---(ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः) ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच (**समितयः**) समितियां हैं। ऊपरके सूत्रमें जो ' **सम्यक्** ' शब्द आया है, उसकी अनुवृत्ति[1] इन पांचोंमें आती है। अर्थात्--सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेपण और सम्यगुत्सर्ग, समितिके ऐसे पांच सार्थक नाम हैं। जो जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंका ज्ञाता मुनि, सावधान होकर सूर्योदयके पश्चात् जब नेत्रोंमें विषयग्रहण करनेकी सामर्थ्य हो जाय और मनुष्य तिर्यंचोंके चलनेसे मर्दित होकर मार्ग प्रासुक हो जाय तब आगेकी चार हाथ भूमिको भले प्रकार देखकर धीरे धीरे चलता है, उस मुनिके पृथ्वीकाय जलकायादि जीवोंकी हिंसाके अभावसें **सम्यगीर्यासमिति** होती है। और हित (परजीवोंको हितकारी) मित (थोड़ा) संदेहरहित प्रियवचनोंका बोलना, सो **सम्यग्भाषा-**

---

१ जो पद (शब्द) ऊपरके सूत्रोंसे ग्रहण किये जाते हैं, वे **अनुवृत्तिपद** कहलाते हैं।

समिति है। दिनमें एक वार निर्दोष आहार ग्रहण करना सो सम्यगेषणासमिति है। शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे देखकर और पीछीसे शोधकर ग्रहण करने तथा स्थापन करने रूप प्रकृति रखना, सम्यगादाननिक्षेपणसमिति है। और त्रस स्थावर जीवोंको पीड़ा न हो, ऐसी शुद्ध जंतुरहित भूमिपर मलमूत्रादि क्षेपणकर प्रासुक जलसे शौचक्रिया करना, सम्यगुत्सर्गसमिति है ॥ ५ ॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—(उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच[1], उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश (धर्माः) धर्म हैं। दुष्ट लोगोंके द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताडण, मारण आदि क्रोधकी उत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी परिणामोंमें मलिनता न लानेको **उत्तम क्षमा** कहते हैं। उत्तम जाति, उत्तम कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदिके विद्यमान होते हुए भी मान (गर्व) नहीं करनेको **उत्तम मार्दव** कहते हैं; अथवा अन्यके द्वारा तिरस्कारादिक होनेपर भी अभिमान न करना, सो **उत्तम मार्दव** है। मनवचनकायकी कुटिलताका (वक्रताका) अभाव, सो **उत्तम आर्जव** है। अन्यके धन स्त्री आदिक पदार्थोंमें अभिलाषाका अभाव तथा परिणामोंको मलिन करनेवाले लोभका अभाव **उत्तम शौच** है। सुन्दर हित मित रूप

---

१ चतुर्थ धर्मका नाम **उत्तम शौच** है, और पंचम धर्मका नाम **उत्तम सत्य** है। क्रोध, मान, माया और लोभके अभाव होनेपर क्रमसे क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म प्रगट होते हैं।

सत्य वचन बोलना, सो **उत्तम सत्य** है। संयम धर्म दो प्रकारका है। एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रियसंयम। ईर्यासमिति आदिकमें प्रवर्ते हुए मुनि जीवोंकी रक्षाके लिए जो एकेंद्रियादि प्राणियोंकी पीड़ा करनेका त्याग करते हैं, सो **प्राणिसंयम** है। और इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव, सो **इंद्रियसंयम** है। कर्मोंको क्षय करनेके लिए अनशनादि तप करना, सो **उत्तम तप** है। संयमी पुरुषोंको योग्य आहारादिका देना—दान करना, सो **उत्तम त्याग** है। आत्मस्वरूपसे भिन्न शरीरादिकमें ममत्वरूप परिणामोंका अभाव सो **उत्तम आकिंचन्य** है। अपनी तथा परकी स्त्रीके विषयमें जो रागादिरूप तथा विषयसेवनरूप भाव होते हैं, उनके अभावको और ब्रह्म (अपनी आत्मा) में ही रमण करनेको **उत्तम ब्रह्मचर्य** कहते हैं। इस प्रकार उक्त दश धर्म, संवरके लिए धारण करना चाहिए ॥ ६ ॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिंतनम्**) अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व इन बारहके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना सो (**अनुप्रेक्षाः**) अनुप्रेक्षा हैं। इन्द्रियोंके विषय धन यौवन जीवितव्य आदि जलके बुद्बुदोंके समान अस्थिर हैं—अनित्य हैं—देखते देखते ही नष्ट हो जानेवाले हैं ' इस प्रकार चिंतवन करना, सो **अनित्यानुप्रेक्षा** है। ' जैसे वनके एकान्तस्थानमें सिंहकेद्वारा पकड़े हुए मृगको कोई शरण नहीं होता है, उसी प्रकार इस संसारमें कालके गालमें पड़ते हुए जीवोंको कोई भी रक्षा करने-

शरण या शरण नहीं है ', इस प्रकार चिंतवन करना, सो **अशरणानुप्रेक्षा** है। ' यह जीव निरंतर एक देहसे दूसरी देहमें जन्म ले ले कर चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करता है और संसार दुःखमय है, ' इत्यादि संसारके स्वरूपका चिंतवन करना, सो **संसारानुप्रेक्षा** है। जन्म जरा मरण रोग वियोग आदि महादुःखोंमें अपनेको असहाय एकाकी चिंतवन करना अर्थात् यह सोचना कि ' सुख दुःख सहनेमें मैं अकेला हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है, ' सो **एकत्वानुप्रेक्षा** है। शरीर कुटुंबादिकसे अपने स्वरूपको भिन्न चिंतवन करना, सो **अन्यत्वानुप्रेक्षा** है। शरीर हाड़ मांस मल मूत्र आदिसे भरा हुआ महा अपवित्र है, ' इस प्रकार अपने शरीरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो **अशुचित्वानुप्रेक्षा** है। ' मिथ्यात्व अविरत कषाय आदिकोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। आस्रव ही संसारमें परिभ्रमणका कारण और आत्माके गुणोंका घातक है, ' इस प्रकार आस्रवके स्वरूपको चिंतवन करना सो **आस्रवानुप्रेक्षा** है। संवरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो **संवरानुप्रेक्षा** है। ' कर्मोंकी निर्जरा किस प्रकार होती है? कैसे उपायोंसे होती है? इत्यादि निर्जराके स्वरूपको वारंवार चिंतवन करना, सो **निर्जरानुप्रेक्षा** है। ' लोक कितना वड़ा है? उसमें क्या क्या रचनाएँ हैं? कौन कौन जातिके जीवोंका कहां कहां निवास है? ' इत्यादि लोकके स्वरूपको चिंतवन करना, सो **लोकानुप्रेक्षा** है। ' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयको बोधि कहते हैं। इस बोधिकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है,' इसकी दुर्लभताका वारंवार चिंतवन करना सो **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** है। ' धर्म है सो वस्तुका स्वभाव है, आत्माका शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है, तथा दर्शनज्ञानचारित्ररूप

वा दशलक्षणरूप वा अहिंसारूप धर्म है,' इत्यादि धर्मके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो **धर्मानुप्रेक्षा** है। इन बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे भी संवर होता है ॥ ७ ॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ—(**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं**) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हो जावे, इसलिए तथा कर्मोंकी निर्जराके लिए (**परीषहाः**) आगेके सूत्रमें कही हुई बाईस परीषह (**परिसोढव्याः**) सहनी चाहिए ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्श-मलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

अर्थ—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नाग्न्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कारपुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन इस प्रकार बाईस परीषह हैं। इन सब परीषहोंसे शरीरसंबंधी वा मनसंबंधी जो अत्यंत पीड़ा होती है, उसे समभावोंसे सह लेनेसे संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है। अत्यंत क्षुधारूप अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसे धैर्यरूपी जलसे शांत कर देना **क्षुधा**परीषहका विजय है। इसीप्रकार तृषाको भी सह लेना सो **तृषा**परीषहका जय है। शीतको सह लेनेसे **शीत**परीषहका जय होता है। ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीके दुःखोंको सह लेना **उष्ण**परीषहका जीतना है। डांस मच्छर वगैरह जीवोंके काटनेकी पीड़ाको सह लेना **दंशमशक**परीषहका जीतना है। नग्न होना बड़ा कठिन कार्य है।

नग्न होकर भी अपने अंगोंको विकाररूप न होने देना लज्जादिकको जीत लेना सो नग्नपरीषहका जीतना है। क्षुधा तृषादिकी बाधासे संयममें अरति या अरुचि होने लगे तो उसका न होने देना—संयममें निरन्तर रुचि रखना सो अरतिपरीषहका जीतना है। सुन्दर स्त्रियोंके हाव भावादिकोंसे विकृत न होना सो स्त्रीपरीषहका जीतना है। मार्गमें चलते हुए खेदखिन्न न होना सो चर्यापरीषहका जीतना है। ध्यानके लिए संकल्प किये हुए आसनमें चलायमान नहीं होना सो निषद्यापरीषहका जीतना है। शास्त्रकी आज्ञानुसार शयनसे नहीं चिगना सो शय्यापरीषहका जीतना है। अनिष्ट वचनोंको सह लेना सो आक्रोशपरीषहका जीतना है। अपनेको मारनेवालेमें रोष नहीं करना, मारनेकी पीड़ाको सह लेना सो वधपरीषहका जीतना है। प्राण जाते भी आहारादिकके लिए दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना सो याचनापरीषहका जीतना है। आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभके समान सन्तुष्ट रहना सो अलाभपरीषहका जीतना है। नाना प्रकारके रोग होनेपर भी इलाजकी इच्छा नहीं करना—रोगजनित पीड़ाको सह लेना सो रोगपरीषहका विजय है। मार्ग चलते समय तृण कंटक कंकरी वगैरह पांवोंमें चुभनेसे उत्पन्न हुई पीड़ाको सह लेना सो तृणस्पर्शपरीषहका विजय है। अपने मैले शरीरको देखकर ग्लानि न करना वा स्नानादिक करनेकी इच्छा न करना सो मलपरीषहका जीतना है। कोई अज्ञानी पुरुष अपमान करे—सन्मान नहीं करे तो सन्मानकी इच्छा न रखकर मानापमानमें समभाव रखना सो सत्कारपुरस्कारपरीषहका जीतना है। विद्वत्ताके मदका अभाव सो प्रज्ञापरीषहका जीतना है। अपनी अज्ञानतासे अपना तिरस्कार होना और अभिलाषा करनेपर भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ऐसे दुःखको सह लेना सो अज्ञानपरीषहका

जीतना है। 'दीक्षा लिये बहुत दिन हो गये, मैं बड़ा तपस्वी हूँ, तौ भी मुझे ऋद्धि या अवधिज्ञानादिककी प्राप्ति नहीं हुई' ऐसी इच्छाको नहीं करना सो **अदर्शन**परीषहका जीतना है। इस प्रकार इन बाईस परीषहोंका जीत लेना भी परम संवरका कारण है ॥ ९ ॥

ये परीषह किन किन गुणस्थानोंमें कितनी कितनी होती हैं, सो कहते हैं—

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ—(**सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः**) सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानवालोंके तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशांत-कषाय नामक ग्यारहवें और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके (**चतुर्दश**) चौदह परीषह होती हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुण-स्थानमें रहनेवालोंके होती हैं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ—(**जिने**) तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनमें अर्थात् केवली भगवान्के (**एकादश**) ग्यारह परीषह होती हैं। छद्मस्थ जीवोंके वेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह होती हैं। केवली भगवान्के भी वेदनामका उदय है, इस कारण उनके भी ग्यारह परीषह होती हैं। परन्तु मोहनीयकर्मके नष्ट होनेसे वेदनीय-कर्मका उदय जोर नहीं कर सकता है। अर्थात् ये ग्यारह परीषह केवलीको कोई पीड़ा नहीं दे सकती हैं, इसलिए नहींसी हैं। सिर्फ

वेदनीयकर्मके सद्भाव होनेसे नाममात्र ही कही जाती हैं ॥ ११ ॥

वादरसांपराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—(वादरसांपराये) स्थूलकषायवाले अर्थात् छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानवालोंके (सर्वे) सब परीषह होती हैं ॥१२॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—(प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञापरीषह और अज्ञानपरीषह (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरणकर्मके उदय होनेपर होती हैं ॥ १३ ॥

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ—(अदर्शनालाभौ) अदर्शनपरीषह और अलाभपरीषह (दर्शनमोहांतराययोः) दर्शनमोह और अंतराय कर्मके उदय होनेपर होती हैं। अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीषह और अंतरायके उदयसे अलाभपरीषह होती है ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ—(चारित्रमोहे) चारित्रमोहनीयके उदय होनेपर (नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः) नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होती हैं ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(शेषाः) बाकीकी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह (वेदनीये) वेदनीयकर्मके उदय होनेपर होती हैं ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ—(**एकस्मिन्**) एक ही जीवमें (**एकादयः**) एकको आदि लेकर (**युगपत्**) एक साथ (**आ एकोनविंशतेः**) उन्नीस परीषह तक (**भाज्याः**) विभाग करना चाहिए। **भावार्थ**—एक जीवके एक साथ उन्नीस परीषह हो सकती हैं। क्योंकि शीत उष्ण-मेंसे एक कालमें शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी और शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनोंमेंसे भी एक कालमें एक ही होगी, इस तरह एक समयमें तीन परीषहोंका सबहीके अभाव होनेसे उन्नीस[1] परीषह ही एक साथ उदय हो सकती हैं॥ १७॥

अब पांचप्रकारके चारित्रका वर्णन करते हैं;—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम्॥ १८॥

अर्थ—(**सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातम्**) सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात (**इति**) इस प्रकार पांच प्रकारका (**चारित्रम्**) चारित्र है। व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायोंका निग्रह, मनवचनकायकी अशुभ प्रवृत्तिरूप अनर्थदंडोंका त्याग और इंद्रियोंका विजय जिस जीवके हो, उसीके संयम होता है। सावद्य योगका भेदरहित जिसमें त्याग हो, उसे **सामायिकचारित्र** कहते हैं। प्रमादके कारण यदि कोई सावद्य कर्म बन जावे तो उससे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रायश्चित्त लेकर छेद देवे और आत्माको फिर व्रतधारणादिरूप संयममें धारण करे, इस क्रियाको **छेदोपस्थापनाचारित्र** कहते हैं; अथवा हिंसादिक सावद्य कर्मोंका विभाग करके

१ श्रुतज्ञानसंबंधी **प्रज्ञापरीषह** और अवधिज्ञानावरणोदयजनित **अज्ञानपरीषह** ये दोनों एक कालमें हो सकती है।

त्याग करना सो छेदोपस्थापनाचारित्र है। जीवोंकी पीड़ाका परित्याग करनेसे विशेष विशुद्धिका होना सो परिहारविशुद्धिचारित्र है। अति-सूक्ष्मकषायके उदयसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें जो चारित्र हो उसे सूक्ष्मसांपरायचारित्र कहते हैं। चारित्रमोहनीयकर्मके सर्वथा उपशम वा क्षय होनेसे अपने आत्मस्वभावमें स्थित होना सो यथाख्यातचारित्र है। सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं। परिहार-विशुद्धिचारित्र छठे और सातवें गुणस्थानमें ही होता है। सूक्ष्मसांपराय-चारित्र दशवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोंमें होता है॥ १८॥

अब निर्जराके कारण बारह तपोंमेंसे पहले बाह्यतपके भेद कहते हैं;—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग-विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः १९

अर्थ—(अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः) अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इस प्रकार छह (बाह्यं तपः) बाह्यतप, हैं। लौकिक ख्यातिलाभादिकी इच्छा नहीं करके संयमकी सिद्धिके लिए, रागभावोंका उच्छेद करनेके लिए, कर्मोंके विनाशके लिए, ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए, इंद्रिय वा कामके दमनके लिए तथा जीतनेके लिए जो भोजनका त्याग करना सो अनशनतप है। और इन्हीं प्रयोजनोंकी सिद्धि वा ध्यानकी

निश्चलतादिके लिए अल्प भोजन करना सो **अवमौदर्यतप** है। ऐसी प्रतिज्ञा करके कि ' एक वा पांच सात घरमें ही जाऊँगा, अथवा एक वा दोही मुहल्लेमें जाऊँगा, वा रास्ते तथा मैदानमें ही भोजन मिलेगा, तो लूँगा, नगरमें नहीं जाऊँगा, ' आहारके लिए बनसे निकलना और नियमानुसार आहारकी विधि नहीं मिलनेपर वापिस वनमें आकर उपवास धारण कर लेना सो **वृत्तिपरिसंख्यानतप** है। इंद्रियोंके दमनार्थ, संयमकी रक्षार्थ और लालसाके त्यागार्थ घृत, दुग्ध, तैल, गुड़, लवणादि रसोंका त्याग करना सो **रसपरित्यागतप** है। जीवोंकी रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्रमें, पर्वत, गुफा, मठ वनखंडादि ऐसे एकांतस्थानोंमें, जहां कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानाध्ययनादिकमें विघ्न न आवे शयन वा आसन करना सो **विविक्तशय्यासनतप** है। शरीरमें ममत्व न रखके कायको क्लेशादिक करनेवाले तप करना सो **कायक्लेशतप** है। ये सब तप बाह्य द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं तथा बाह्यमें सबको दिखते हैं, इस कारण इनका नाम बाह्यतप है ॥ १९ ॥

अब अभ्यंतरतपोंको कहते हैं;—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

अर्थ—(प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह (उत्तरम्) अभ्यंतरतप हैं। प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना सो **प्रायश्चित्ततप** है। पूज्यपुरुषोंका आदर करना सो **विनयतप** है। मुनियोंकी सेवा टहल करना सो **वैयावृत्यतप** है। ज्ञानाराधनमें आलस्यको त्याग कर ज्ञानाध्ययन करना करावना उपदेश

देना सो **स्वाध्यायतप** है। बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना सो **व्युत्सर्गतप** है। चित्तविक्षेपका त्याग करना सो **ध्यानतप** है ॥२०॥

अब इन तपोंके भेद कहते हैं:—

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ—(ध्यानात् प्राक्) ध्यानसे पहले पहलेके पांच तप (यथाक्रमं) क्रमसे (नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः) नौ, चार, दश, पांच और दो भेद रूप हैं, अर्थात् नौप्रकारका प्रायश्चित्त है, चार प्रकारका विनय है, दश प्रकारका वैयावृत्य है, पांच प्रकारका स्वाध्याय है और दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥ २१ ॥

अब प्रायश्चित्तके नौ भेद कहते हैं:—

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—**प्रायः** शब्दका अर्थ 'अपराध' है, और **चित्त** शब्दका अर्थ 'शुद्धि' करना है सो अपराधोंकी शुद्धि करनेको **प्रायश्चित्त** कहते हैं। इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद परिहार और उपस्थापना ऐसे नौ भेद हैं। गुरुके निकट जाकर अपने किये हुए अपराधोंको दशप्रकारके दोषोंसे रहित स्पष्ट रीतिसे प्रगट करना सो **आलोचना** है। 'मैंने जो अपराध किये हैं सो मिथ्या 'होहु' इस प्रकार कहना सो **प्रतिक्रमण** है। कोई दोष तो आलोचनामात्रासे शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करनेसे शुद्ध होता है, और कोई दोष दोनोंके करनेसे शुद्ध होता है, ऐसे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंके करनेको **तदुभयप्रायश्चित्त** कहते हैं। आहार, पान वा उपकरण

आदिसे अलग कर देना अर्थात् किसी नियत समय तक आहारादिकका, त्याग करा देना सो **विवेकप्रायश्चित्त** है। कालका नियम करके कायोत्सर्ग करना सो **व्युत्सर्ग** है। अनशनादि तप वा उपवास, वेला, तेला पंचोपवासादि करना सो **तपप्रायश्चित्त** है। दिन, मास, संवत्सरकी दीक्षाका छेद करना सो **छेदप्रायश्चित्त** है। पक्ष मासादिकके नियमसे संघसे निकाल देना सो **परिहारप्रायश्चित्त** है। समस्त दीक्षाको छेदकर फिरसे नई दीक्षा देना सो **उपस्थापनाप्रायश्चित्त** है ॥ २२ ॥

अब विनय नामके अभ्यंतरतपके भेद कहते हैं:—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, इस तरह विनयके चार भेद हैं। आलस्यरहित होकर शुभमनसे अत्यंत सन्मानपूर्वक जिनसिद्धान्तोंका ग्रहण अभ्यास स्मरणादि करना सो **ज्ञानविनय** है। निःशंकितादि दोषरहित सम्यग्दर्शनका धारण करना सो **दर्शनविनय** है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी पांच प्रकारके चारित्रको पालनेवाले मुनिजनोंका नाम कानोंसे सुनते ही रोमांचित हो अन्तःरंगसे हर्षित होना, मस्तकपर अंजुलि करना और भावोंमें चारित्र धारनेकी इच्छा रखना सो **चारित्रविनय** है। आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके प्रत्यक्ष होते ही खड़ा हो जाना, सन्मुख जाना, हाथ जोड़ना, बंदन करना, पीछे पीछे गमन करना, तथा आचार्यादिकके परोक्ष रहनेपर भी हाथ जोड़ना, गुणोंकी महिमा करना, बारंबार स्मरण करना, उनकी आज्ञानुसार ही प्रवर्त्तना सो **उपचारविनय** है ॥ २३ ॥

अब वैयावृत्यतपके भेद कहते हैं:—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दशप्रकारके साधुओंकी सेवा टहल करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है। जो व्रताचरण धारण करावें, प्रायश्चित्त दें, समस्त प्रकारके शास्त्रोंके जानकार हों और पंचाचारके धारियोंमें श्रेष्ठ हों सो **आचार्य** हैं। जो व्रत शील भावनाके आधार हों और जिनके निकट मुनिगण शास्त्राध्ययन करें सो **उपाध्याय** हैं। उपवासादिक महातप करें सो **तपस्वी** हैं। श्रुतज्ञानके अध्ययन करनेमें तत्पर और व्रत और व्रत भावनादिमें निपुण हों सो शिष्य वा **शैक्ष** हैं। जिनका शरीर रोगादिकसे क्लेशरूप हो सो **ग्लान** हैं। जो वड़े मुनियोंकी परिपाटीके हों सो **गण** हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यके जो शिष्य हैं सो **कुल** हैं। जो चारप्रकारके मुनिसंघके साधु हैं सो **संघ** हैं। जो बहुत कालके दीक्षित हों सो **साधु** हैं और जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा उपदेश विना ही जो लोकमें पूज्य हों, प्रशंसावान् हों, सो **मनोज्ञ** हैं। इन दशप्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना अर्थात् शरीरसंबंधी व्याधि अथवा दुष्टजनोंके किये हुए उपसर्गादिकमें सेवा टहल करना, दवाई वगैरह करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है ॥ २४ ॥

अब स्वाध्यायतपके भेद कहते हैं:—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं। निर्दोष ग्रंथका तथा ग्रंथके अर्थका तथा

ग्रंथ और अर्थ दोनोंका विनयवान् धर्मके इच्छुक भव्य पात्रको पढ़ाना सिखाना सुनाना सो **वाचनास्वाध्याय** है। शब्दमें वा शब्दके अर्थमें जो संशय हो, उसे दूर करनेकेलिए बड़े ज्ञानियोंसे विनयसहित प्रश्न करना, सो **पृच्छनास्वाध्याय** है। गुरु जनोंकी परिपाटीसे जाने हुए अर्थको मनन करके अभ्यास करना वा बारंबार चिंतवन करना सो **अनुप्रेक्षास्वाध्याय** है। पाठको शुद्धतापूर्वक घोखना, सो **आम्नाय-स्वाध्याय** है। उन्मार्गको दूर करनेकेलिए और पदार्थोंका समीचीन स्वरूप प्रकाश करनेकेलिए उपदेशरूप कथन करना, सो **धर्मोपदेशस्वाध्याय** है ॥ २५ ॥

अब व्युत्सर्गतपको कहते हैं:—

बाह्याभ्यंतरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—व्युत्सर्ग[1] तप दोप्रकारका है। एक बाह्योपधित्याग और दूसरा अभ्यंतरोपधित्याग। धन धान्यादि बाह्यपरिग्रहका त्याग सो **बाह्योपधित्यागतप** है और क्रोधादि अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग सो **अभ्यंतरोपधित्यागतप** है ॥ २६ ॥

अब ध्यानका स्वामी, लक्षण और वह कितने समय तक हो सकता है, यह बतलाते हैं:—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतमुहूर्तात् ॥ २७ ॥

अर्थ—(**उत्तमसंहननस्य**) उत्तम संहननवालेका (**आ अंतर्मुहूर्तात्**) अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत (**एकाग्रचिंतानिरोधः**) एकाग्र चिंताका निरोध करना (**ध्यानम्**) ध्यान है। **भावार्थ**—छह संहननोंमेंसे पहलेके वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और

---

१ व्युत्सर्ग नाम त्यागका है, उपधि नाम परिग्रहका है।

नाराचसंहनन ये तीन उत्तम संहनन हैं। ये तीन संहनन उत्कृष्ट ध्यानके कारण हैं। जिन पुरुषोंके ये तीन संहनन होते हैं, वे ही उत्कृष्ट ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत रहता है। मोक्ष होनेका कारणभूत वज्रवृषभनाराचसंहनन ही है। चित्तकी वृत्तिको अन्य क्रियाओंसे खींचकर एक ही ओर स्थिर करना सो एकाग्रचिंता-निरोध वा ध्यानतप है ॥ २७ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं:—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ऐसे चार-प्रकारका ध्यान है। इनमेंसे आर्त्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म्य तथा शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं ॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थ—(परे) अगले दो ध्यान अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्ल-ध्यान (मोक्षहेतू) मोक्षके कारण हैं। इसी वचनसे पहलेके दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं, ऐसा ध्वनित होता है २९

अब पहले आर्त्तध्यानका लक्षण कहते हैं:—

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, उनमेंसे (अमनोज्ञस्य) विष कंटक शत्रु शस्त्र आदिक अप्रिय पदार्थोंका (संप्रयोगे) संयोग हो जानेपर (तद्विप्रयोगाय) उसके दूर करनेके लिए (स्मृतिसमन्वा-हारः) वारंवार चिंता करना, विचार करना सो (आर्त्तम्) अनिष्ट-संयोगज नामका पहला आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—(**मनोज्ञस्य**) स्त्री पुत्र धन आदि प्यारे पदार्थोंका (**विपरीतम्**) पूर्वोक्तसे विपरीत चिंतवन करना अर्थात् वियोग होनेपर उनकी प्राप्तिके लिए बारंबार चिंता करना, **इष्टवियोगज** नामका दूसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—(च) और (**वेदनायाः**) वेदनाका अर्थात् रोगजनित पीड़ाका चिंतवन करना, अधीर हो जाना, विलापादिक करना, सो **वेदनाजनित** तीसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—(च) और (**निदानं**) आगामी विषय भोगादिकका निदान करना, बांछा करना और उसका विचार करते रहना सो **निदान** नामका चौथा आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(**तत्**) वह आर्त्तध्यान (**अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्**) मिथ्यात्व, सासादान, मिश्र और अविरत इन चार गुणस्थानवालोंके तथा पांचवें देशविरत और छट्ठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानवालोंके होता है । परंतु ऊपर कहे हुए चारप्रकारके आर्त्तध्यानोंमेंसे निदान नामका आर्त्तध्यान प्रमत्त गुणस्थानवालोंके नहीं होता है ॥ ३४ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

---

१ यहां 'अविरत' शब्दसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती नहीं, किंतु व्रतरहित जीव मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर अविरतसम्यग्दृष्टी तक) समझना चाहिए ।

अर्थ—(अविरतदेशविरतयोः) अविरती अर्थात् पहले चार गुणस्थानवाले जीवोंके और देशविरती अर्थात् पांचवें गुणस्थानवालोंके (हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः) हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी) और विषयोंकी रक्षासे चारप्रकारका (रौद्रम्) रौद्रध्यान होता है। हिंसा करनेका वारंवार चितवन करना और उसमें आनंद मानना **हिंसानंदी**, झूंठ बोलनेका चितवन करना **मृषानंदी**, चोरीका चितवन करना **चौर्यानंदी** और परिग्रहकी रक्षाका चितवन करना **परिग्रहानंदी** रौद्रध्यान है ॥ ३५ ॥

अब धर्म्यध्यानके चार भेद कहते हैं:—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ—(आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानके विचय अर्थात् विचारकेलिए वारंवार चितवन करना सो (धर्म्यम्) चारप्रकारका धर्म्यध्यान है। उपदेशदाताके अभावसे और अपनी मंदबुद्धिसे सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप अच्छी तरह समझमें न आवे, तो उस समय सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका अर्थ अवधारण करना **आज्ञाविचय धर्म्यध्यान** है। 'मिथ्यादृष्टियोंके कहे हुए उन्मार्गसे ये प्राणी कैसे फिरेंगे? इनके अनायतनसेवाका अभाव किस प्रकार होगा? ये कब सन्मार्गमें आवेंगे? समीचीन मार्गका तो प्रायः अभावसा हो गया है', इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चितवन करना, सो **अपायविचय धर्म्यध्यान** है। ज्ञानावरणादि कर्मोंका द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार जो विपाक अर्थात् फल होता है, उसका चितवन करना **विपाकविचय धर्म्यध्यान** है और लोकके संस्थानोंका चितवन करना सो **संस्थानविचय धर्म्यध्यान** है। यह धर्म्यध्यान चौथे असंयत, पांचवें देश-

संयत, छट्ठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३६ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—अगले ३९ वें सूत्रमें पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद कहेंगे, उनमेंसे (**आद्ये शुक्ले**) आदिके दो शुक्लध्यान (**पूर्वविदः**) पूर्वके जाननेवाले अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं। चकारसे यह सामर्थ्य निकलती है कि श्रुतकेवलीके धर्म्यध्यान भी होते हैं ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(**परे**) अगले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान (**केवलिनः**) सयोगकेवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं; छद्मस्थके नहीं ॥ ३८ ॥

अब शुक्लध्यानके चार भेद कहते हैं:—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९

अब शुक्लध्यानका अवलंबन कहते हैं:—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—उक्त चारों भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान तो मन, वचन और काय इन तीन योगोंके धारकके होता है। दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनोंमेंसे किसी एक योगवालेके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका ध्यान काययोगवालेके

ही होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका ध्यान अयोगकेवलीके होता है ॥ ४० ॥

अब प्रथमके दो ध्यानोंसे विशेष जाननेकेलिए सूत्र कहते हैं:—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—(पूर्वे) पहलेके दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके दो शुक्लध्यान (एकाश्रये) एकाश्रय अर्थात् श्रुतकेवलीके आश्रय होते हैं और (सवितर्कवीचारे) वितर्क और वीचारसहित होते हैं ॥ ४१ ॥

इस सूत्रमें वितर्क और वीचारको कोई यथासंख्य नहीं समझ लेवे, अर्थात् ऐसा न समझ लेवे कि पहला सवितर्क है और दूसरा सवीचार है, इसलिए कहते हैं;—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—(द्वितीयम्) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) वीचार-रहित है। अर्थात् आदिका शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनों-सहित हैं और दूसरा वितर्कसाहित है परंतु वीचाररहित है ॥ ४२ ॥

अब वितर्कका लक्षण कहते हैं;—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—(श्रुतम्) श्रुतज्ञान है सो (वितर्कः) वितर्क है। अर्थात् श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। विशेष प्रकारसे तर्क करनेको वितर्क कहते हैं। शब्दश्रवणपूर्वक अर्थ ग्रहणको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ ४३ ॥

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः) अर्थ, व्यंजन और योगोंकी पलटन है, सो (वीचारः) वीचार है। ध्येय द्रव्यको छोड़कर

उसकी पर्यायका ध्यान करनेको और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करनेको **अर्थसंक्रांति** कहते हैं। श्रुतके एक वचनका अवलंबन करके अन्यका अवलंबन करनेको और उसको छोड़ दूसरेका अवलंबन करनेको **व्यंजनसंक्रांति** कहते हैं। और काययोगको छोड़कर मनोयोग वा वाग्योगके ग्रहण करनेको और मनोयोग वा वाग्योगको छोड़कर काययोगके ग्रहण करनेको **योगसंक्रांति** कहते हैं। इस प्रकारके परिवर्त्तनको ही वीचार कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस प्रकार बाह्याभ्यंतरतपोंका वर्णन किया। ये दोनों तप नवीन कर्मोंका निरोध करनेके हेतु होनेसे संवरके कारण हैं और पूर्वबंधे कर्मोंके नष्ट करनेके निमित्त होनेसे निर्जराके भी कारण हैं।

अब तपश्चरणादि करनेसे जो निर्जरा होना कहा है, वह समस्त सम्यग्दृष्टी जीवोंके एकसी ही होती है कि भिन्न भिन्न होती है, यह बतलानेके लिए सूत्र कहते हैं;—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—(**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः**) सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अर्थात् महाव्रती मुनि, अनंतानुबंधीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहको नष्ट करनेवाला, चारित्रमोहको उपशम करनेवाला, उपशांतमोहवाला, क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोही और जिनेंद्र भगवान् इन सबके (**क्रमशः**) क्रमसे (**असंख्येयगुणनिर्जराः**) असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिसे असंख्यातगुणी

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके और श्रावकसे असंख्यातगुणी मुनिके इस प्रकार प्रत्येकके ऊपर ऊपर बढ़ती हुई असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४५ ॥

अब मुनियोंके पांच भेद कहते हैं:—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—(**पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातकाः**) पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक, ऐसे पांच प्रकारके (**निर्ग्रंथाः**) निर्ग्रंथ साधु हैं। जो उत्तर गुणोंकी भावनारहित हों और मूलगुणोंमें भी किसी काल वा किसी क्षेत्रमें परिपूर्णताको प्राप्त न हों, अर्थात् कभी किसी कारणके वशसे जिनसे मूलगुणोंमें भी दोष लग जाता है, उन्हें **पुलाकमुनि** कहते हैं। जिनके मूलगुण परिपूर्ण हों, परंतु अपने शरीर उपकरणादिकी शोभा बढ़ानेकी किंचित् इच्छा रहती हो, उनको **बकुशमुनि** कहते हैं। कुशीलमुनि दो प्रकारके होते हैं—एक प्रतिसेवना कुशील और दूसरे कषायकुशील। जिनके उपकरण और शरीरादिकसे विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंकी तो परिपूर्णता हो, परंतु उत्तर गुणोंमें कारण विशेषसे कभी कुछ विराधना आती हो, उनको **प्रतिसेवनाकुशील** कहते हैं और जिन्होंने संज्वलन कषायके अतिरिक्त अन्य कषायोंको जीत लिया हो, उन्हें **कषायकुशील** कहते हैं। जिनके मोहकर्मके उदयका अभाव हो और जैसे जलमें दंड ताड़नसे लहर उठती है और शीघ्र ही विलय हो जाती है, उसी प्रकार अन्य कर्मोंका उदय मंद हो, प्रगट अनुभवमें नहीं आवे, उनको **निर्ग्रंथ**[1] साधु कहते हैं। और समस्त घातिया कर्मोंका नाश करनेवाले केवली भगवान्

---

1 उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती।

स्नातक हैं । इस प्रकार ये पांचोंही निर्ग्रंथ हैं ॥ ४६ ॥

अब पुलाकादिक निर्ग्रंथोंके और भी भेद कहते हैं:—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

अर्थ—(संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः) संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ प्रकारके भेदोंसे भी पुलाकादिक मुनि (**साध्याः**) साधने योग्य हैं । अर्थात् आठ कारणोंसे पुलाकादिक मुनियोंके और और भी भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदुस्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशम अध्याय ।

इस अध्यायमें सप्ततत्त्वोंके वर्णनमेंसे मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहना है और मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक है अर्थात् पहले केवलज्ञान हो जाता है, तव मोक्ष होता है । इस कारण पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण कहते हैं;—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलम् १

अर्थ—(**मोहक्षयात्**) मोहनीयकर्मके क्षय होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त पर्यंत क्षीणकषाय नामका बारहवां गुणस्थानपाकर (**च**) तत्पश्चात् (**ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात्**) युगपत् (एक साथ) ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेसे (**केवलम्**)

केवलज्ञान होता है । भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

अब मोक्षका लक्षण क्या है और वह किस कारणसे होता है, सो कहते हैं;—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—(बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां) बंधके कारणोंके नहीं रहनेसे (कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः) समस्त कर्मोंका अत्यंत अभाव हो जाना, सो (मोक्षः) मोक्ष है । भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंका नाश हो जाना अर्थात् कर्मबंधके कारणोंका अभाव और पूर्वसंचित कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा नाश हो जाना, सो ही मोक्ष है ॥ २ ॥

अब पुद्गलमयी द्रव्यकर्मकी प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे ही मोक्ष होता है या भावकर्मोंका भी नाश हो जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेकेलिए सूत्र कहते हैं;—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—(च) और मुक्तजीवके (औपशमिकादिभव्यत्वानाम्) औपशमिकादि भावोंका और पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्वभावका भी अभाव होजाता है । भावार्थ—औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तथा भव्यत्व इन चारप्रकारके भावोंका और पुद्गलकर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंका नाश हो जानेपर मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ४

अर्थ—(केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः) केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसिद्धत्व इन चार भावोंके (अन्यत्र)

सिवाय अन्य भावोंका मुक्त जीवके अभाव है। यहां प्रश्न होता है कि यदि मुक्त जीवके ये चार ही भाव अवशेष रहते हैं, तो अनंतवीर्यादिका भी अभाव समझना चाहिए। इसका समाधान यह है कि अनंतवीर्यादिक हैं सो अनंतज्ञान और अनंतदर्शनसे अविनाभावी-संबंधवाले हैं अर्थात् अनंतज्ञान और अनंतदर्शनके साथ साथ अनंत-वीर्य अनंतसुखादिक भाव भी नियमसे रहते हैं। क्योंकि अनंतसुख अनंतवीर्य जीवमें ही होते हैं जड़में नहीं होते। जब जीवमें होते हैं, तो जीव अनंतज्ञानमय है—ज्ञानके बिना जड़के सुख हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ—(तदनंतरम्) समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके पश्चात् मुक्तजीव (आलोकांतात्) लोकके अंत भाग तक (ऊर्ध्वं) ऊपरको (गच्छति) जाता है ॥ ५ ॥

आगे ऊर्ध्वगमनका हेतु कहते हैं;—

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूर्वप्रयोगात्) पूर्वप्रयोगसे (असंगत्वात्) असंग होनेसे (बंधच्छेदात्) कर्मबंधके नष्ट हो जानेसे (च) और (तथागतिपरिणामात्) तथा गतिपरिणामसे अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभावके होनेसे मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन होता है ॥ ६ ॥

अब इन चारों कारणोंके चार दृष्टान्त देते हैं;—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरंडबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—(आविद्धकुलालचक्रवत्) कुम्हारके द्वारा घुमाये हुए

चाक्के समान, (व्यपगतलेपालावुवत्) जिस परसे मिट्टीका लेप दूर हो गया है ऐसी तूंबीके समान, (एरंडबीजवत्) एरंडके बीजके समान (च) और (अग्निशिखावत्) आगकी शिखाके समान मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन होता है ! ये चार दृष्टांत पूर्वसूत्रमें दिये हुए चार हेतुओंके प्रगट करनेवाले हैं । अर्थात् जिस तरह पूर्वके प्रयोगसे दंडेके द्वारा भेर हुए घुमावसे कुम्हारका चक्र उसके घुमाना बंद कर देनेपर भी बराबर फिरता रहता है, उसी प्रकारसे संसारी जीव मुक्ति गमनके लिए जो निरंतर चिंतवन किया करता है, उस संस्कारके कारण मुक्त हो जानेपर भी गमन करता है । जिस तरह मिट्टीसे लिपटी हुई तूंबी जब तक मिट्टीके कारण भारी रहती है, तब तक पानीमें डूबी रहती है परन्तु ज्यों ही उसकी मिट्टी धुल जाती है, त्यों ही वह पानीके ऊपर उतरा आती है । इसी प्रकारसे कर्मके भारसे दबा हुआ आत्मा ज्यों ही उनसे छुटकारा पाकर हल्का हो जाता है, त्यों ही ऊपरको गमन करता है । जिस तरह एरण्डका बीज जबतक फलके आवरणसे ढँका हुआ रहता है, परन्तु ज्यों ही सूखनेपर आवरण दूर होता है, त्यों ही चिटककर ऊपरको उछलता है । इसी प्रकारसे कर्म प्रकृतियोंसे बंधा हुआ आत्मा ज्यों ही छूटता है त्यों ही ऊपरको जाता है, और जिस तरह यहां वहांकी हवाके न होनेसे अग्निकी शिखा ऊपरको ही जाती है, उसी प्रकारसे मनुष्यादि गतियोंमें ले जानेवाले कर्मोंके अभावसे जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है ॥ ७ ॥

जीवका जब ऊर्ध्वगमनका स्वभाव है, तो फिर लोकके अंतमें ही क्यों ठहर जाता है ? अलोकाकाशमें भी क्यों नहीं चला जाता है ? इसका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं कि;—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकायके अभाव होनेसे गमन नहीं होता है। अर्थात् धर्मादिक पांच द्रव्योंका निवास लोकाकाशमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है और जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक धर्मद्रव्य ही होता है जिसका कि आगे अभाव है, इसलिए जीवके गमनका भी अभाव है। इसी कारण मुक्तजीव लोकके अंतमें जाकर सिद्ध-स्थानमें ठहर जाता है॥ ८॥

यदि यहां कोई प्रश्न करे कि मुक्त जीवोंमें कुछ भेद भी है कि नहीं ? तो उसका उत्तर इस प्रकार है;—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—(क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञा-नावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः) क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहन, अंतर, संख्या और अल्प बहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भी भेद (साध्याः) साधने चाहिए। अर्थात् इन कारणोंसे मुक्तजीवोंके भी भेद किये जा सकते हैं।

भावार्थ—वास्तवमें तो सिद्धोंमें कोई भेद नहीं है, सब एकसे हैं; परन्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे कि भरत विदेह आदि किस क्षेत्रसे वे मुक्त हुए हैं, कालकी अपेक्षासे—कि किस कालमें मुक्त हुए हैं, गतिकी अपेक्षासे—कि किस गतिसे मोक्ष गये हैं, लिंगकी अपेक्षासे—कि तीन भावलिंगोंमेंसे किस लिंगसे क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष पाया है, तीर्थकी अपेक्षासे—कि किस तीर्थंकरके तीर्थमें मोक्षको गये हैं वा तीर्थंकर

होकर मोक्ष हुए हैं या सामान्य केवली होकर हुए हैं, चारित्रकी अपेक्षासे–कि किस चारित्रसे कर्मोंसे छूटे हैं, प्रत्येक बुद्धबोधितकी अपेक्षासे–कि स्वयं बोधित होकर सिद्ध हुए हैं या किसीके उपदेशसे बोधित हुए हैं, ज्ञानकी अपेक्षासे–कि मति श्रुत पूर्वक केवलज्ञान पाकर मोक्षको गये हैं या मति श्रुत अवधि या मति श्रुत अवधि मनःपर्ययपूर्वक केवली हुए है, अवगाहनाकी अपेक्षासे–कि अधिकसे अधिक सवापांच सौ धनुषके और छोटेसे छोटे साढ़े तीन हाथके शरीरमेंसे किस शरीरसे मोक्ष हुए हैं, अंतरकी अपेक्षासे कि–एक मुक्त हुए जीवसे दूसरे मुक्त जीवके बीचके समयमें कितना अंतर है, संख्याकी अपेक्षासे कि उनके साथ और कितने जीव मुक्त हुए हैं और अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे–कि समुद्र द्वीप आदि स्थानोंसे थोड़े बहुत कितने सिद्ध हुए हैं; इस तरह सिद्धोंमें भेदोंकी कल्पना हो सकती है ॥ ९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अंतिम प्रार्थना ।

**अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्रमम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-
समुद्रे ॥ १ ॥**

अर्थ—यदि यह ग्रन्थ कहींपर अक्षर, मात्रा, पद, स्वर रहित हो तथा व्यंजन, संधि, और रेफ वर्जित हो, तो इस विषयमें सज्जन पुरुषोंको वा मुनिजनोंको मुझपर क्षमा करना चाहिए । भला इस शास्त्ररूपी महान् समुद्रमें कौन गोते नहीं खाता है अर्थात् कौन नहीं भूलता है–भूल सबसे होती है ।

माहात्म्य ।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थें पठिते सति ।
फलं स्वादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दश अध्यायवाले तत्त्वार्थशास्त्रके भावपूर्वक पढ़नेसे एक उपवासके करनेका फल होता है, ऐसा वड़े वड़े मुनियोंने कहा है ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।
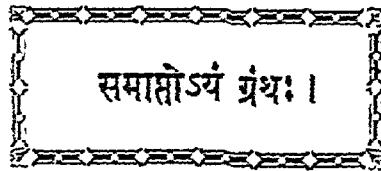
श्रीवीतरागाय नमः ।

जैन-ग्रंथ-रत्नाकर बम्बई द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र ।

महाकवि स्व० बनारसीदासजीके

नाटक समयसारका

अपूर्व और अद्वितीय संस्करण ।

मूल कविता, शब्दार्थ, भावार्थ

और

टिप्पणीमें श्रीअमृतचंद्राचार्यके संस्कृत कलश, ३२ पृष्ठोंमें कविवरका आत्मचरित, विस्तृत विषयसूची, मूल पद्योंकी अनुक्रमणिका, कलशोंकी अनुक्रमणिका और प्रत्येक पद्यके शीर्षक ।

बम्बईकी बढ़िया छपाई, बढ़िया कागज, नयनाभिराम कपड़ेकी जिल्द,

६२० पृष्ठ, मूल्य ५)

जैनियोंके हिन्दी-साहित्यमें इसकी जोड़का कोई दूसरा काव्य-ग्रंथ नहीं है। यों तो यह कई बार छुप चुका है, परन्तु अवतक विद्वानोंके हाथोंमें देने योग्य इसका एक भी संस्करण नहीं हुआ था। इस संस्करणको देखकर आप खुश हो जायँगे। मूल पाठको लेखकों और प्रकाशकोंने वहुत नष्ट भ्रष्ट कर दिया था, वह बड़े परिश्रमसे शुद्ध कर दिया गया है। एक अध्यात्म-रसके मर्मज्ञ और जैनधर्मके ज्ञाता विद्वान्से शुद्ध हिन्दीमें सरल टीका लिखवाई गई है, जो विषयको बहुत ही स्पष्ट कर देती है। कविवरने **अमृतचन्द्राचार्यके** किस संस्कृत कलशका आशय लेकर कौनसा पद्य वनाया है, यह भी टिप्पणीमें स्पष्ट कर दिया गया है। यह इस संस्करणकी सबसे वड़ी खूबी है। बहुत कम विद्वानोंको इस वातका ज्ञान है। हम चाहते है, कि यह अपूर्व ग्रन्थ प्रत्येक जैनमंदिर, और सरस्वती-भवनमें विराजमान हो और जैनी इसका स्वाध्याय करके सच्चे जैनधर्मका स्वरूप समझ कर अपना कल्याण करें।

समयसारका जैनधर्म वहुत ही उदार और वहुत ही सुख शांतिका दाता है।

अध्यात्म-रसका उत्कृष्ट ग्रन्थ

आत्मानुशासन।

भगवज्जिनसेनाचार्यके प्रधान शिष्य उत्तरपुराण आदि महान् ग्रन्थोंके कर्त्ता, महाकवि और महात्मा आचार्य **श्रीगुणभद्रकी** यह अपूर्व रचना है। इसे उन्होंने अपने मुख्य शिष्य लोकसेनको विषय-विमुख करनेके लिए वहुत ही मार्मिक वाणीमें लिखा है। प्रत्येक श्लोक कण्ठ करने लायक है, और अपने आत्मापर अधिकार प्राप्त करानेवाला है। इसकी रचना **भर्तृहरिके** शतकत्रयकी वल्कि कहीं कहीं तो उससे भी वढ़िया है। ऊपर मूल श्लोक और नीचे सरल हिन्दीमें अर्थ और विस्तृत भावार्थ दिया है। आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक गृहस्थ, त्यागी, क्षुल्लक, ऐलक और मुनिको इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इधर वहुत समयसे यह ग्रन्थ मिलता नहीं था, इसलिए फिरसे वहुत शुद्धता और सुन्दरतासे छपाया गया है। टाइप पहलेसे भी वड़ा है। इसकी सैकड़ों प्रतियाँ त्यागियों और ब्रह्मचारियोंको दान की जानी चाहिए। श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका साथमें है। पृष्ठसंख्या २७४ मूल्य दो रुपया।

भक्तामरकथा (यंत्र मंत्र सहित)

भक्तामरस्तोत्रका जैनी मात्र प्रायः रोज पाठ किया करते है, इसमें कितना भक्तिरस भरा है कहा नही जा सकता, इसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। इस स्तोत्रकी दिगम्बर स्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोंमे समान रूपसे मान्यता है। यह ग्रन्थ ब्रह्मचारी रायमल्ल रचित संस्कृत भक्तामरकथाके आधारसे सरल हिन्दी भाषामे स्व० पं० उदयलालजी कासलीवाल द्वारा लिखा हुआ है। इसमें पहले भक्तामरके मूल श्लोक, फिर पं० गिरिधर शर्माकृत सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद, बादमे मूल श्लोकका खुलासा भावार्थ, भक्तामरके मंत्रोंको सिद्ध करनेवालोंकी तेंतीस सुन्दर और अद्भुत कथाएँ और अन्तमें स्व० पं० हेमराजजी रचित भाषा कविताका भक्तामर भी दे दिया गया है, इसके बाद मंत्र, ऋद्धि और उनकी साधनविधि अड़तालीसही श्लोकोंके अड़तालीस यंत्र दिए गये है। मूल्य सादी जिल्दका १।) कपड़ेकी सुन्दर जिल्द सहितका मूल्य एक रु० दस आने।

अठारहनाते—स्व० कवि यति नयनसुखदासजी और कुन्दनलालजीकृत कवितावद्ध और सरल हिन्दीमें कथा सहित। वेश्यागमनसे एक ही भवमे एक जीवके अनेक नाते किस प्रकार हुए जिसका रोचक वर्णन है। मूल्य ≈)

अरहंतपासाकेवली—कविवर वृन्दावनजीकृत कवितावद्ध। चन्दनका पासा डालकर अपना शुभ अशुभ देख सकते है। मूल्य ≈)॥

आप्तपरीक्षा—मूल संस्कृत मात्र, विद्यानंदिस्वामिकृत। मूल्य ≠)

आप्तमीमांसा—मूल संस्कृत मात्र, स्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत। इसे देवागम भी कहते हैं। मूल्य ≠)

आरतीसंग्रह—इसमे कविवर द्यानतराय, मानसिंह, दीपचंद आदि कवियोकी बनाई हुई १४ आरतियोका संग्रह है। मूल्य ≠)

आलोचनापाठ—और सामायिकपाठ—कवि माणिकचंदकृत आलोचनापाठ, पं० महाचन्द्रजीकृत सामायिकपाठ और बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत **मेरी भावना** तीनों एक साथ हैं। मूल्य ≠)

इष्टछत्तीसी—पं० बुधजनजीकृत अर्थ सहित। इसमें पंचपरमेष्ठीके १४६ मूलगुणोंका वर्णन और तीन चौबीसीके नाम है। मूल्य ≠)

उपमितिभवप्रपंचाकथा—दूसरा प्रस्ताव। अनु० पं० नथूरामजी प्रेमी, कथाके छलसे चारों गतियोंके दुःखोंका बहुत ही सुन्दरतापूर्वक वर्णन किया गया है। मूल्य।≠)

उपासना-तत्त्व—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत । मूर्तिपूजा क्यों करनी चाहिए, इस बातको बहुत अच्छी तरहसे शास्त्रोंके प्रमाणोंसहित समझाया है। यह हजारोंकी संख्यामें बाँटी जानी चाहिए। इसके प्रचारकी बड़ी आवश्यकता है। मूल्य ≈)॥।

ऋषिमंडलमंत्रकल्प—(यंत्रपूजा साधनविधि सहित) श्रीविद्याभूषणसूरिकृत मूल और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीकासहित। यह मंत्रशास्त्रका छोटासा पर अपूर्व ग्रंथ है। इसमें कल्पस्तोत्र, मंगलाचरण, यंत्रपूजा, पूजाकरानेवालेके और चढ़ानेवालेका लक्षण, पूजाकी विधिके आचार्यका लक्षण, मंडप (स्थान) का लक्षण, सामग्रीका स्वरूप, यंत्र बनानेकी विधि, यंत्रकी पूजाका प्रारंभ, ऋषिमंडल स्तोत्रका पाठ, मंत्र बनानेकी विधि और अक्षरोंकी संख्या, अर्हतका वाचक 'ह्रीं' बीजाक्षरका स्वरूप और उसके पाँचों भागके पाँच रंगका कथन, उन पाँच भागोंमें अपने रंगके अनुसार तीर्थंकरोंकी स्थापना, सर्प, विच्छू, डाकिनी, शाकिनी, राक्षस, व्यंतरदेव, ग्रहों, चोरों, नाहर, सूअर, दुश्मन रोगोंसे रक्षाके जुदे जुदे मंत्र, यंत्र मंत्रादिका लौकिक फल, मंत्र साधनेकी विधि, मंत्रादिका पारमार्थिक-फल, दिक्पाल पूजा, क्षेत्रपालपूजा और अंतमें मंत्र साधनेकी सम्पूर्ण विधि है। यंत्र भी मोटे चिकने कागजपर लाल स्याहीसे छपा हुआ साथ है। मूल्य ॥) यंत्र एक आनेमें जुदा भी मिलता है।

कर्मदहन पूजा-विधान—सुदृष्टितरंगिणी आदि महान् ग्रंथोंके कर्ता पं० प्रवर टेकचन्द्रजीने इसकी रचना की है। इसमें आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंके नाशके लिये १४८ उपवास करने और उपवासके दिन मंत्र जपनेकी विधि बतलाई है। १४८ प्रकृतियोंसे रहित सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा है। प्रत्येक प्रकृतिका सरल वर्णन सुन्दर कवितामें है। कागज छपाई सभी सुन्दर हैं। मू० ।-

कल्याणमंदिरस्तोत्र—कुमुदचन्द्राचार्यकृत मूल और पं० बुद्धिलालजी श्रावककृत हिन्दी पद्यानुवाद, इसके बाद अन्वयार्थ और भावार्थ सहित। अन्तमें स्व० कविवर बनारसीदासकृत भाषा कल्याणमंदिर है। सुन्दरतापूर्वक छपा है। मू० ।-

क्रियामंजरी—संग्रहकर्ता-पं० लालारामजी शास्त्री। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रि तक, नित्य करने योग्य प्रातर्विधि, ईर्यापथ-शुद्धि, जिनमंदिर जानेकी विधि,

दर्शनविधि, दर्शनपाठ, प्रतिक्रमण, संध्यावंदन, यज्ञोपवीत, सामायिकादिपाठ आदिकी विधि संक्षेपमें बतलाई गई है । मूल्य ≥)

ग्रन्थपरीक्षा—प्रथमभाग । लेखक-पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार । इसमें उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थोंकी विस्तृत समालोचना की गई है और सिद्ध किया गया है कि ये जैन ऋषियोंके बनाये हुए प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं, किन्तु भेषी-भट्टारकोंने इन्हें बनाया है, और इनमें बहुत कुछ छल-कपटसे काम लिया गया है । मूल्य लागतमात्र ।≈)

ग्रन्थपरीक्षा—द्वितीय भाग । इसमें 'भद्रबाहुसंहिता' नामक ग्रन्थकी खूब विस्तारसे समालोचना की है, और सिद्ध किया है, कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवलीका नहीं, किन्तु किसी दूसरे ही भेषी भट्टारकका बनाया हुआ है, इसमें जो कुछ लिखा है, वह प्रमाण नहीं है । ऐसे जाली ग्रन्थोंसे सावधान रहनेके लिए इस पुस्तकको अवश्य पढ़ना चाहिए । मूल्य लागतमात्र ।)

ग्रन्थपरीक्षा—तृतीय भाग । जैनसमाजके सुप्रसिद्ध लेखक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी लिखी हुई ग्रंथपरीक्षाका तीसरा भाग बड़े ही महत्वका है । आकारमें भी पहले दूसरे भागसे तिगुनेके करीब है, डिमाई अठपेजी साइजके २८० पृष्ठोंमें छपा है । इसमें १ **सोमसेन-त्रिवर्णचार**, २ **धर्मपरीक्षा** (श्वेताम्बरी) ३ **कलंकप्रतिष्ठापाठ** और ४ **पूज्यपादश्रावकाचार** नामक चार ग्रन्थोंके परीक्षा-लेखोंका संग्रह है । सोमसेन-त्रिवर्णचारकी परीक्षा बहुत विस्तारके साथ लिखी गई है, और वह अकेली २६६ पृष्ठोंमें आई है । इसमें ग्रन्थका संग्रहत्व, अजैन ग्रन्थोंसे संग्रह, प्रतिज्ञादि विरोध और दूसरे विरुद्ध कथन, नामके चार प्रकरण खास तौरसे पढ़ने योग्य हैं । पाठक इसे पढ़कर सहजहीमें यह जान सकते हैं, कि यह त्रिवर्णाचार कितना अधिक जाली, मिथ्यात्वका पोषक, विरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण और जैनियोंको उनके आदर्शसे गिरानेवाला है । इतने बड़े ग्रन्थका मूल्य प्रचारकी दृष्टिसे केवल १।।) रक्खा गया है । कुल ५०० कापियाँ छपाई गई हैं । अतः मंगानेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये । देर करनेपर पीछेसे किसी भी मूल्यमें नहीं मिल सकेगी ।

चर्चाशतक—स्व० कविवर द्यानतरायजीकृत मूल कविता और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सरल सुबोध हिन्दी भाषाटीका सहित । इसमें सवैया, कवित्त,

छप्पय आदि १०३ पद्य है, जिनमे तीनो लोक संबंधी अनेक विषयोंका वर्णन है। इसे छोटासा **गोम्मटसार** या **त्रैलोकसार** कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं है। दूसरी बार सुन्दरता पुर्वक छपा है, ऊपर पुट्ठेकी जिल्द बंधी है। मूल्य १)

छहढाला—स्व० पं० दौलतरामजीकृत। बड़े अक्षरोंमें। मूल्य ﹂)

छहढाला—स्व० पं० बुधजनजीकृत बड़े अक्षरोंमें। मूल्य ﹂)

छहढाला—बावनअक्षरी स्व० पं० द्यानतरायजीकृत। मूल्य ﹂)

जिनसहस्रनामस्तवन—पं० प्रवर आशाधरकृत, भगवज्जिनसेनाचार्यकृत और स्व० कविवर बनारसीदासजीकृत, २ संस्कृतके और १ भाषाका, ऐसे ३ सहस्रनामोंका संग्रह इसमें है। पूजनके प्रारंभमे सहस्रनाम पढनेकी प्रथा है। इसलिये हमने मोटे अक्षरोंमें बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक छपाया है। मूल्य ।)

जिनेन्द्रपञ्चकल्याणक—(पंचमंगल) स्व० पं० रूपचन्दजीकृत। अभिषेकपाठ सहित। कठिन शब्दोंका अर्थ भी दिया है। मूल्य ﹂)॥

जैन गीतावली—संग्रहकर्ता स्व० मूलचन्दजी सोधिया। पुत्रोत्पत्ति, ज्योनार, विवाह, मुंडन, वन्दन आदि सुअवसरोंपर स्त्रियोंके गाने योग्य १०५ उत्तमोत्तम धार्मिक भावोंसे परिपूर्ण प्राचीन कवियोंके बनाये सुन्दर कवितामें गायन है। ऐसा अच्छा और बड़ा गीतोंका संग्रह कहीं नहीं छापा है। बुन्देलखण्डके गीत है। हमने बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अच्छे कागजपर छपाया है। मुखपृष्ठपर जयपुरके एक कुशल चित्रकारका बनाया हुआ सुन्दर चित्र है। मूल्य ॥)

जैनपदसंग्रह प्रथम भाग—कविवर दौलतरामजीकृत तमाम १२४ पदोंका अत्युत्तम संग्रह। कठिन शब्दोंका अर्थ दिया गया है। मूल्य ॥)

जैनपदसंग्रह द्वितीय भाग—स्व० पं० भागचन्दजीके ८७ पदोंका संग्रह। पदोंकी वर्णानुक्रमणिका सहित। मोटे अक्षरोंमे सुन्दरता पूर्वक छपा है। मूल्य ।)

जैनपदसंग्रह तृतीय भाग—कविवर भूधरदासजीके ८० पदों, बिनतियों, जकड़ियोंका संग्रह। मोटे अक्षर और पदोंकी वर्णानुक्रमणिका सहित। मूल्य ।﹂)

जैनशतक—कविवर भूधरदासजीके यों तो सब ही ग्रन्थ उत्तम है, परन्तु इसका एक एक कवित्त और सवैया अमूल्य और प्रत्येक पुरुषके कंठ करने योग्य है। कठिन शब्दोंकी टिप्पणी भी दी हुई है। मूल्य ।)

जैनसिद्धान्तप्रवेशिका—स्वर्गीय पं० गोपालदासजी रचित। प्रश्नोत्तरके

रूपमे जैनधर्मके तत्त्वोंको सरलरूपसे वर्णन किया है । जैनीमात्रके पढ़ने योग्य है । इसके पढ़नेसे जैनधर्मके तत्त्वोंसे अच्छी जानकारी हो जाती है । मूल्य ।=)

जैनविवाहविधि-संग्रहकर्ता-पं० पन्नालालजी बाकलीवाल । यह विवाह-पद्धति स्व० पं० फतेलालजी और संघी पन्नालालजीकी बनाई जैनविवाहपद्धतिका सरल संक्षिप्त और सुगम रूपान्तर है । इसमें सब विधि सरल हिन्दीमें सिलसिलेवार है । प्रत्येक जैनीको इस पुस्तकके द्वारा जैनविधिका प्रचार करके मिथ्यात्वके रोकनेका प्रयत्न करना चाहिए । मूल्य ।-)

जैनचार्योंका शासनभेद-(जैनतीर्थंकरोंके शासनभेद-सहित) जैनसमाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० जुगलकिशोरकी मुख्तारकी लेखनीसे प्रकट हुआ यह ग्रंथ जैन साहित्यमें एक बिलकुलही नई चीज है, मुख्तार साहेबके गहरे अनुसंधान विचार तथा परिश्रमका फल है । इसमे बड़ी खोजके साथ जैनाचार्योंके पारस्परिक शासनभेदको दिखलाते हुए, श्रावकोंके अष्ट मूलगुणों, पंच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों और रात्रिभोजनत्याग नामक व्रतपर अच्छा प्रकाश डाला गया है । साथ ही, जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदका भी, उसके कारण सहित, कितना ही सप्रमाण दिग्दर्शन कराया गया है और उसमें मूलोत्तर गुणोंकी व्यवस्थाके रहस्यको भी खोला गया है । ग्रन्थ विद्वानोंके पढ़ने तथा विचार करने योग्य है । प्रत्येक जैनीको इसे जरूर पढ़ना चाहिये और समाजमें इसका प्रचार करना चाहियें । मूल्य लागतमात्र पाँच आने ।

तत्त्वार्थसूत्रकी बालबोधिनी भाषाटीका—श्रीयुत पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत । यह टीका जैनधर्मके विद्यार्थियोंके लिए बनाई गई हैं । यह भादोंमें बाँचनेके लिऐं भी बड़े कामकी है । साधारण भाई भी इससे सूत्रोंके अर्थ बाँचकर समझ सकते हैं । मूल्य ।॥)

तत्त्वार्थसूत्र—(मोक्षशास्त्र) श्रीउमास्वामिकृत मूल शुद्ध पाठ । मोटे अक्षरोंमें पाठ करने योग्य । मूल्य =)

तत्त्वार्थसूत्र—मूल और **भक्तामर** मूल मात्र मोटे अक्षरोंमें । मूल्य =)॥

दर्शनकथा—भारामल्लजी कृत छन्दोबद्ध । इसमें जिनप्रतिमा-दर्शनका माहात्म्य वर्णन है । मूल्य ।-)

दर्शनपाठ—संस्कृत दर्शन स्तोत्र, दौलतरामजीकृत स्तुति, बुधजनजी कृत स्तुति, पंचपरमेष्ठीकी आरती और अक्षतादि चढ़ानेके समय बोलनेके श्लोकों सहित। मूल्य ‐)

दानकथा—स्व० कवि बख्तावरमल रतनलालजी कृत। चारों दानोंके करनेका माहात्म्य और चारो दान करनेवालोंकी कथा सहित। मूल्य ≶)

द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत संस्कृत छाया, अन्वय, हिन्दी अर्थ, भावार्थ सहित। मू०।)

दशलाक्षणिक जयमाला—श्रीरइधूकविकी बनाई हुई प्राकृत जयमाला, पं० लालारामजीकृत भाषाटीकासहित। इसमें दश धर्मोंके स्वरूपका बहुत ही अच्छा वर्णन किया गया है; जो कि भादोंके दशों दिनोंमें पढ़ने सुनने योग्य है। साथमें संस्कृत अष्टक और समुच्चय आरती भी है। मूल्य।‐)

धनंजयनाममाला और अनेकार्थनाममाला—द्विसंधान महाकाव्यके कर्त्ता कविशिरोमणि धनंजयकी यह अनूठी रचना है। संस्कृत भाषाके प्रसिद्ध प्रसिद्ध शब्दोंका यह छोटासा बड़ा उपयोगी कोष है। विद्यार्थियोंके कंठस्थ करनेके योग्य है। सबको सुलभ मूल्यमें मिल सके, इसलिये मूलमात्र बहुत शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपाया गया है। मूल्य ≶)॥

निर्वाणकाण्ड—मूल गाथा, संस्कृत छाया, भाषा कविता और कविवर वृन्दावनजीकृत महावीरपूजा सहित। मूल्य ‐)

नित्यनियम पूजा—इसमें इस प्रकार पाठ छपे हुए हैं—लघुअभिषेक पाठ संस्कृत, नित्यपूजा संस्कृत प्राकृत, देवगुरुशास्त्रकी भाषापूजा, चौसतीर्थंकरपूजा, अकृत्रिमचैत्यालयोंके अर्घ, सिद्धपूजा संस्कृत-प्राकृत–सिद्धपूजाका भावाष्टक, सोलहकारणादिका अर्घ, पंचपरमेष्ठीकी जयमाला प्राकृत, शांतिपाठ संस्कृत, विसर्जन संस्कृत, और भाषास्तुतिपाठ। मूल्य।)

नियमसार—आचार्य श्रीकुन्दकुन्दकृत। यह समयसार, प्रवचनसार आदिके ही समान अध्यात्मका प्राकृत गाथाबद्ध अलभ्य ग्रन्थ है। इसपर निर्ग्रन्थ मुनि श्रीपद्मप्रभमलधारीकी संस्कृतटीका है, जो साथ ही छपी है, और सर्वसाधारणके समझनेके लिए ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी बनाई हुए भाषाटीका भी शामिल कर दी गई है। मूल्य कपड़ेकी जिल्दका २।) और सादीका १॥।)

सूचीपत्र

नित्यपाठावली—श्रीअमितगतिसूरिकृत **परमात्मद्वात्रिंशतिका** सामायिकपाठ मूल और रत्नाकरसूरिकृत **रत्नाकरपंचविंशतिका** मूल और हिन्दीके सुकवि रामचरित उपाध्यायरचित सुन्दर हिन्दी कविता सहित। मूल्य ≈)

निशिभोजन त्यागकथा और निशिभोजन भुंजनकथा—स्व० भारामल्लजी और भूधरदासजीकृत। मूल्य ≈)

पार्श्वपुराण—कविवर भूधरदासजीका यह अपूर्व ग्रन्थ है। यह चौपाई दोहा आदि अनेक छन्दोंमें है। इसकी कविता बडी ही मनोहारिणी है। जैनियोंके भाषा कथाग्रन्थोंमे इससे अच्छी और सुन्दर कविता आपको और कहीं न मिलेगी। जैनधर्मके विशेष विशेष सिद्धान्तोंको इसमें अच्छी तरह स्पष्टतासे समझाया है। शास्त्रसभाओंमें पढ़े जानेके योग्य है। वस्तुत सुन्दरतासे मोटे अक्षरोंमे छपा है। ऊपर पुट्ठेकी जिल्द है, मूल्य सिर्फ १)

परमार्थजकड़ी या भजनसंग्रह—इसमें कविवर दौलतराम, भूधरदास, रूपचंद, जिनदास, रामकृष्ण, दरिगहमल और शाहणूरचित सुन्दर आध्यात्मिक भजनोंका संग्रह है। कठिन शब्दोंका अर्थ भी दिया है। मूल्य ~)॥

प्रद्युम्नचरित—सोमकीर्ति आचार्यके संस्कृत ग्रन्थका सरल और सुन्दर हिन्दी अनुवाद। इस ग्रन्थमें श्रीकृष्णनारायणक पुत्र प्रद्युम्न-कुमारकी मनोहर कथा बड़ी ही सरल और सुन्दर भाषामें वर्णन की गई है। एक वार पढ़ना शुरु करके फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता है। शृंगारादि सभी रसोंसे यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। पढ़नेमें उपन्यास सरीखा आनन्द आता है। दूसरी वार मोटे अक्षरोंमें सुन्दरतापूर्वक खुले पत्रोंमें छपा है। मू० २॥)

प्रवचनसारपरमागम—कविवर वृन्दावनजीने प्रवचनसारपरमागमकी कविता करके बडा नाम कमाया है। इसमें अध्यात्मके गूढ़ तत्त्वोंका वर्णन है। कविवरकी खास हाथकी लिखी हुई प्रतिसे संशोधन करके यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेसमें सुन्दरता पूर्वक छपाया गया है। मूल्य १।)

प्रतिष्ठासारोद्धार—पंडित प्रवर आशाधरविरचित यह प्रतिष्ठाका ग्रन्थ है। स्वर्गीय पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें प्रतिष्ठा करानेवाला गृहस्थ और प्रतिष्ठा करनेवाला आचार्य कैसा होना चाहिए? शुभाशुभ जाननेकी कर्णपिशाचिनी विद्या सिद्ध करनेकी विधि, मंदिरके योग्य स्थान, शिला आदि लाने-

की विधि, प्रतिष्ठा होने योग्य मूर्त्तिकाका लक्षण, पाँचों कल्याणककी विधियें किस किस प्रकार करनी चाहिए, इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रतिष्ठा करानेवाले सज्जनोंको यह ग्रंथ पहले पढ़कर देख लेना चाहिए, फिर इसके लिखे अनुसार संपूर्ण विधि पूर्वक कार्य करानेसे ही लाभ होगा। मूल्य १॥।) जिल्ददारका २।)

बालबोधजैनधर्म—चौथा भाग। स्व० बाबू दयाचन्दजी गोयलीय और पं० लालारामजीकृत। इसमें १ देवशास्त्रगुरु पूजा, २ पंचपरमेष्ठीके मूलगुण, ३ चौबीस तीर्थंकरोंके नाम चिह्नसहित, ४ सप्तव्यसन, ५ अष्टमूलगुण, ६ अभक्ष, ७ बारहव्रत, ८ ग्यारहप्रतिमा, ९ तत्त्व और पदार्थ, १० कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियाँ इस प्रकार १० पाठ है। यह विद्यार्थियोंकी पाठ्यपुस्तक है और इसे पढ़कर सर्वसाधारण भी इन विषयोंका अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकते है। मूल्य ।-)

बुधजनसतसई—स्व० कविवर बुधजनजीके बनाये हुए ७०० दोहोका उत्तम संग्रह। इसके देवानुराग-शतकमें भगवत्स्तुति, सुभाषितनीति, उपदेशाधिकारमें सुन्दर उपदेश, विराग-भावनामे वैराग्यसंबंधी दोहे है। कठिन शब्दोका अर्थ टिप्पणीमें दिया है। प्रारंभमे ग्रंथकर्त्ताका परिचय है। कंठ करने योग्य पुस्तक है। छपाई कागज सभी उत्तम है। मूल्य।≈)

भक्तामर मूल और भाषा कविता—श्रीमानतुंगसूरिकृत मूल और पं० हेमराजजीकृत भाषा पद्यानुवाद। मू० -)।

भक्तामरस्तोत्र—अन्वय, हिन्दी अर्थ, भावार्थ और श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी कृत नवीन भाषापद्यानुवाद सहित। इसमें पहले हरिगीतिका और नरेंद्रछन्दमें उसकी सुन्दर कविता बनाई गई है। फिर प्रत्येक श्लोकको अन्वयानुगत पदार्थ देकर फिर प्रत्येकका भावार्थ लिखा गया है। मू०।-)

भाषापूजासंग्रह—इसमें अभिषेकपाठ, पचामृताभिषेकपाठ, देवशास्त्रगुरुपूजा, विद्यमानविंशति तीर्थंकरपूजा, देवपूजा, सरस्वतीपूजा, गुरुपूजा, अकृत्रिमचैत्यालयपूजा, सिद्धचक्रपूजा, पंचमेरुपूजा, नन्दीश्वर, सोलहकारण, दशलक्षण, रत्नत्रय और निर्वाणक्षेत्रपूजा, समुच्चयचौबीसीपूजा, स्वयंभूस्तोत्र, सप्तर्षिपूजा, शान्तिपाठ, विसर्जनपाठ और भाषा स्तुतिपाठ आदि सब भाषाके पूजा-पाठ हैं। मू० ॥≈)

मेरी भावना—बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत, नित्यपाठ करने योग्य छोटीसी कविता। इसकी लाखो प्रतियाँ खप चुकी है। सुन्दर छपी है। मूल्य)॥ एकसौसे अधिक प्रतियाँ मंगानेवालोंको किफायतसे दी जावेंगी।

मेरी द्रव्यपूजा—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी सुन्दर रचना, संस्कृत श्लोक और हिन्दी-पद्यानुवादसहित । मेरी भावनाके जैसी छोटे आकारमें बड़ी सुन्दरतासे छपी है। कविता कंठस्थ करनेके योग्य है। मूल्य)॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार—प्रत्येक जैन विद्यार्थीको सबसे पहले यही धर्म-शास्त्र पढ़ाया जाता है। अन्वय, अर्थ और भावार्थ सहित। छपाई आदि सब सुन्दर। मूल्य ।-)

रविव्रतकथा—स्व० कविवर भाऊकृत। इतवारके व्रतके माहात्म्यकी सुन्दर शिक्षाप्रद कथा है। कविता इसकी प्राचीन और सुन्दर है। मूल्य -)॥

वर्त्तमानचतुर्विंशतिजिनपूजा—(चौबीसीपाठ) स्वर्गीय कविवर वृन्दावनजीकृत चौबीस तीर्थकरोंकी पूजाका पाठ है। स्वयं कविवरकी हाथकी लिखी पुस्तकपरसे सुन्दरतापूर्वक मोटे अक्षरोंमें छपाई है सजिल्द है। मूल्य १)

विद्वज्जनबोधक—स्व० पं० प्रवर पन्नालालजी दूनेवालेकृत प्रथम भाग। इस ग्रंथकी रचना उस समय हुई थी, जिस समय शिथिलाचारी महन्तों—भट्टारकोंने जैनधर्मके पूजापाठोंमें, चारित्र-ग्रंथोंमें ऐसी बातें घुसेडना चाहीं, जो कि शास्त्राज्ञासे विरुद्ध थीं। इन ही सब बातोंको विचारकर जयपुर और अन्यान्य जगहके जैनविद्वानोंकी रायसे पं० जीने यह ग्रंथ लिखकर जैनधर्ममें प्रवेश होती हुई मलिनताको दूरकर लोगोंका बड़ा उपकार किया था। इस ग्रंथमें सैकड़ों ग्रंथोंके श्लोक प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये हैं, जिन्हें देखकर ग्रंथकर्त्ताके शास्त्राध्ययनकी गंभीरताका असर चित्तपर पड़े विना नहीं रहता है। ग्रंथारंभमें ग्रंथकर्त्ताका जीवनचरित भी है, इस भागमें १२ उल्लास हैं। **प्रथमउल्लासमें** ओंकारपद्धति, वक्ता, श्रोता, कथा, मोक्ष, इनका लक्षण, सिद्ध-स्वरूप। **द्वितीय उल्लासमें** मोक्षमार्ग, उसका लक्षण, त्रितयात्मक मोक्षमार्गका द्विविधत्व। **तृतीय उल्लासमें** सम्यग्दर्शनादिके भिन्नभिन्न लक्षण, उसके अतीचार सम्यग्दर्शनको बढ़ानेवाले गुण आदि अनेक विषय। **चतुर्थ उल्लासमें** साक्षरी और निरक्षरी दिव्यध्वनि, गुरुका स्वरूप, पुलाकादि पाँच प्रकारके निर्ग्रंथोंका स्वरूप, उत्सर्ग और अपवाद लिंग, स्वेच्छाचार और भ्रष्ट मुनि, शास्त्रका स्वरूप, आर्षग्रंथोंकी नामावली। **पंचम उल्लासमें** सम्यग्दृष्टिके अन्य कर्त्तव्य, जिनेन्द्रपूजा ही विधेय है, शासनदेव पूज्य हैं या अपूज्य, शान्तिकर्ता और क्रूर देवता, अवर्णवाद, सम्यक्ती पंच-परमेष्ठी और जिनागमके सिवाय किसीको नमस्कार नहीं करता है, नमस्कारादिमें दोष, आदिपुराणके पीठिका-मंत्रोंका वास्तविक अर्थ, द्विजोत्तमोंकी पूजा या सत्कार,

असंयमीको वंदना नहीं करना, अग्नित्रयकी तथा निधियोंकी पूजामें शंका और उसका समाधान, भवनत्रिकके जिनशासनदेव भी पूज्य नहीं हैं. पूजाका अर्थ सत्कार। **छट्ठे उल्लासमें** पूज्य पूजककी दिशाओंका निर्णय, जिन पूजा सन्मुख खड़े होकर करना ठीक है, बैठकर नहीं। **सप्तम उल्लासमें** अभिषेक निर्णय, पंचपरमेष्ठीकी ही प्रतिमा बनानी चाहिए, तप अवस्थाकी मूर्तियाँ, पुरुषाकार जालीके समान पारदर्शी मूर्ति सिद्धकी, पंचकल्याणकद्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओंपर जन्मकल्याणके संकल्पसे अभिषेकादि क्रियायें करना अयोग्य है, अभिषेक प्रासुक जलसे करे या शीतल जलसे। **अष्टम उल्लासमें** स्थापना निर्णय, निराकार और साकार स्थापनामें निराकार स्थापनाका वसुनंदि मतसे निषेध, पुष्पादिमें स्थापना होना ठीक है, छः प्रकारके निक्षेपोंका स्वरूप, नवदेवोंकी पूजाका विधान। **नवमें उल्लासम** जलचंदनादि अष्ट द्रव्योंका निर्णय, प्रतिमापर चंदनादि लेप करनेका सप्रमाण निषेध, सचित्त पुष्पोंसे पूजा करना भी उचित है, चरणोंपर पुष्प चढ़ाना निषिद्ध है, सचित्त अचित्त पूजा, सचित्त अचित्त निर्णय। **दशवें उल्लासमें** चमरी गौके बालोंका चमर निषिद्ध है, देवपूजाके भेद, मंडलविधान (माँड़ना) करनेकी रीति प्राचीन है या नवीन, पूजकके लक्षण, शूद्र, पूजन करे या नहीं, प्रतिष्ठाचार्यके लक्षण, भेषी (भट्टारक) प्रतिष्ठा करानेके लिए अयोग्य है, जिनपूजा क्या केवल मंत्रोंसे ही होनी चाहिए, शरदपूर्णिमा और दीपमालिकाका उत्सव, सूतक-विधान, रात्रिपूजन निषेध, निर्माल्य-द्रव्यचर्चा, पूजनमें धान्यके अंकुर दर्भ सरसों आदिका निषेध, उद्यापनमें सकलीकरण पुण्याहवाचन, शान्तिधारा आदिका निषेध, अग्निकुंडमें ही पूजन करना ठीक नहीं है, जिनमंदिर बनवाने प्रतिष्ठाकरानेका माहात्म्य, पूजन प्रतिष्ठादि कार्योंमें अहिंसाधर्मकी स्थापना। **ग्यारहवें उल्लासमें** निर्ग्रन्थोंके भेद और लक्षण, आचार्य उपाध्याय साधु प्रवर्तक स्थविर वर्णन, अष्ट शुद्धि। **बारहवें उल्लासमें** अनशनादि छः प्रकारके बाह्यतपोंका स्वरूप, प्रायश्चित्त नामक अन्तरंग तप, और उसके ९ भेदोंका स्वरूप, अकलंकप्रायश्चित्तकी अप्रामाणिकता, चार प्रकारका विनय तप, वैयावृत्त्यमें दश प्रकारके मुनियोंका स्वरूप आदि। पृष्ठ संख्या ५५०, मोटे अक्षरोंमें सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर पुट्ठेकी जिल्द है। मूल्य सिर्फ ३)

विधवा-कर्त्तव्य—लेखक वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान् बाबू सूरजभानुजी वकीलने इसे समस्त धर्मों-सम्प्रदायोंकी हिन्दू विधवाओंको कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ करा-

नेवाली उपदेशात्मक यह पुस्तक लिखी है। इसमें यह दुनियाँ सुपनेका तमाशा है दुनियाँके लोगोंका धर्म साधनका झूठा मार्ग, शोक विलाप करना पाप है, बच्चोंको शिक्षा कैसे देना, थोड़ी पढ़ी हुई और बिना पढ़ी हुई विधवायें कैसे पढ़कर पाठशालायें चलावें, विधवाओंके धर्म साधनके मार्ग, आदि एकसे एक बढ़कर २५ विषय हैं। पृष्ठसंख्या १४४ मूल्य सिर्फ आठ आना, इकट्ठी वितरण करनेवालोंको किफायत से दी जायगी।

विधवासंबोधन—लेखक बाबू जुगलकिशोरजी। यह छोटीसी कविता है। इसमें विधवाओंके कर्त्तव्योंका संक्षेपमें वर्णन है। बड़ी सुन्दर (मेरीभावना जैसी) छपी है। मूल्य एक आना।

विनती संग्रह—इसमें कविवर बृन्दावनजी कृत संकटहरण विनती, कविवर दौलतरामजीकृत ' सकल ज्ञेय ज्ञायक ' नामक स्तुति और कविवर भूधरदासकृत बजदंत चक्रवर्तीकी वैराग्यभावना (जोगीरासा) है। मूल्य -)

वेश्यानृत्यस्तोत्र—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी यह सुन्दर रचना है। इसमें रंडीके नाचसे पैदा होनेवाली बुराइयोंका अच्छा चित्र खींचा है। मू०)॥

शीलकथा—भारामल्लजीकृत। कवितामें पातिव्रत-धर्मकी महिमाका कथा रूपमें वर्णन है। मूल्य ।-)

सम्मेदशिखर माहात्म्य—भाषावचनिकामें—सम्मेदशिखर तीर्थ और उसके समस्त कूटोंका माहात्म्य व जितने जितने मुनि मुक्ति गये हैं उनका वर्णन है। सम्मेदशिखर जानेवालोंको अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य -)

सम्यक्त्व-कौमुदी-अनुवादक-पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ। इसमें सम्यक्त्व प्राप्त करनेवालोंकी ८ कथायें हैं। उदितोदय राजाकी कथा, मित्रश्री, चन्दनश्री, विष्णुश्री, नागश्री, पद्मलता, कनकलता, विद्युल्लताकी कथा ऐसी आठ धार्मिक कथायें हैं। छपाई कागज आदि सभी दर्शनीय हैं। मू० ॥)

सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा—स्व० पं० प्रवर गोपालदासजी बरैयाकृत। अन्य धर्मावलम्बी यह मानते हैं कि इस जगत्‌की रचना करनेवाला कोई सर्व शक्तिमान् परमेश्वर अवश्य है। वही सब प्राणियोंको सुख देता है। इन्हीं सब बातोंका प्रबल

अकाट्य युक्तियोंसे खंडन किया है, और सिद्ध किया है। जगत् अनादि-निधन है, और रहेगा, इसे किसीने बनाया नहीं है, प्राणी अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल सुख दुःख अपने आप भोगते है। छपाई सफाई वहुत सुन्दर है। मूल्य ≈) अन्यधर्मियोंमें बॉटने योग्य है। बॉटनेवालोंको किफायतसे दी जावेगी।

समाधिमरण—दोतरहका-प० सूरचन्दजी रचित बड़ा और कविवर द्यानतरायजीकृत छोटा कवितावद्ध। मूल्य -)॥

सामायिकपाठ—अपरनाम **परमात्मद्वात्रिंशतिका**—आचार्य अमितगतिकृत मूल श्लोक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकृत भाषाटीका। आरंभमें सामायिक करनेकी सरल विधि भी दी गई है। चौथी आवृत्ति। मूल्य -)॥

स्वामीसमन्तभद्र—(इतिहास) इसे जैनहितैषी और जैनगजटके भूतपूर्व सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेक वर्ष महान् परिश्रम करके सैकड़ो प्राचीन ग्रंथों शिलालेखों आदिके आधारसे बडी खोजसे लिखा है। इतनी खोजसे शायद ही कोई जीवनचरित्र लिखा गया हो। इसमें ८ प्रकरण है। पहले **प्राक्कथन**—मे ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसन्धानकी कठिनाइयॉ। दूसरे **पितृकुल और गुरुकुल**—मे शान्तिवर्म्मा और समन्तभद्र जिनस्तुतिशतक (स्तुतिविद्या) का कर्तृत्वादि, गृहस्थाश्रम प्रवेश और विवाह, राज्यासन-संबंधी भारतका एक दस्तूर, दीक्षा और शिक्षा उनके स्थान, गणगच्छादि विषयकी गडवड़। तीसरे **गुणादिपरिचय**-में संस्कृत भाषासे प्रेम और उसके साहित्यपर अटल छाप, कवित्व, गमकत्व, वादित्व, और वाग्मित्व, नामके चार गुण, लोकमे समंतभद्रके उक्त गुणोकी धाक और उनके विषयमें प्राचीन विद्वानोंके उद्गार, वादक्षेत्र, मन. परणति, धर्मप्रचारके लिए विहार, वादघोषणाये और उनका फल, चारणऋद्धिसे युक्त 'पदर्द्धिक' होनेके उल्लेख, समंतभद्रका मोहनमंत्र अथवा उनकी सफलताका रहस्य, स्याद्वादविद्या और समंतभद्र, समन्तभद्रके वचनोंका माहात्म्य और उसके विषयमे श्रीविद्यानंदिआदि आचार्योंके हार्दिक उद्गार, समन्तभद्र-भारतीस्तोत्र, समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य, 'स्वामी'पद और उसकी प्रसिद्धि। चौथे **भावीतीर्थंकरत्व**-में भारतमे भावी तीर्थंकर होनेका उल्लेख, समंतभद्रकी अर्हद्भक्ति 'स्तुतिकार' रूपसे प्रसिद्धि और स्तुति स्तोत्रोंके विषयमें उनकी विचारपरिणति तथा दृष्टि, जीवनके

दो खास उद्देश्य, शिवकोटि आचार्यकी भावना। पाँचवें **मुनि-जीवन और आपत्काल**-में मुनिचर्याका कुछ सामान्य प्रदर्शन और भोजनविधिका तद्विषयक विचारोंके साथ यत्किंचित् निरूपण, मणुवकहल्लीमें तपश्चरण करते हुए 'भस्मक' रोगकी उत्पत्ति, स्थिति और तज्जन्य वेदनाके अवसरपर समन्तभद्रका धैर्यावलम्बन, मुनि अवस्थामें रोगको निःप्रतीकार समझकर 'सल्लेखना' व्रत धारण करनेके लिए समंतभद्रके विचारोंका उत्थान और पतन, गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना, गुरुका उसे अस्वीकार करते हुए सम्बोधन और कुछ कालके लिए मुनिपद छोड़नेकी आज्ञा, मुनिवेषको छोड़कर दूसरा कौनसा वेष (लिंग) धारण किया जाय इस विषयमें विचार और तदनुकूल प्रवृत्ति, काञ्चीमे शिवकोटि राजाके पास पहुँचना और उसके 'भीमलिंग' नामक शिवालयकी आश्चर्य घटना, शिवकोटि राजाका अपने भाई शिवायन सहित जिनदीक्षाग्रहण, भस्मक रोगकी शान्ति और आपत्कालकी समाप्ति, श्रवणबेल्गोलके शिलालेख आदिसे उक्त घटनाका समर्थन, शिवकोटि राजाके विषयमें ऐतिहासिक पर्यालोचन, आराधनाकथाकोषमे दी हुई ब्रह्मनेमिदत्तकी समंतभद्र कथाका सारांश और उसपर विचार, समन्तभद्रके शिष्य और भस्मक व्याधिकी उत्पत्तिका समय, जीवनचरित्रका उपसंहार, छठे **समय-निर्णय**-में मतान्तर विचार, सिद्धसेन और न्यायावतार, क्षपणक शब्दका दिगम्बर साधुओंके लिए व्यवहार, पूज्यपाद, उमास्वामि, वीरनिर्वाण, विक्रम और शकसंवत्, कुंदकुंद-समय, राजा शिवकुमार एलाचार्यके समयका निर्णय, पट्टावलि प्रतिपादित कुन्दकुन्दका समय, भद्रबाहूके शिष्य कुन्दकुन्द, तुम्बूलाचार्य और श्रीवर्द्धदेव, गंगराजके संस्थापक सिंहनन्दी, समयनिर्णय प्रकरणका उपसंहार, सातवे **ग्रंथ-परिचय**-में आप्तमीमांसा (देवागम) युक्त्यनुशासन, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्डक-उपासकाध्ययन, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ-कर्मप्राभृत-टीका (पट्खण्डागमके प्रथम पाँच खण्डोंका भाष्य) आदि ग्रंथोंका परिचय, गन्धहस्तिमहाभाष्य (अवतकके मिले हुए उल्लेखोका प्रदर्शन और उनपर विस्तृत विचार) आठवें **परिशिष्ट**-में और भी बहुतसे विषयोका खुलाशा किया गया है। पृष्ठसंख्या २७० प्रचारकी दृष्टिसे मूल्य सिर्फ १) प्रत्येक जैनीको इस ग्रंथको पढ़कर ग्रंथकर्ता और हमारे श्रमको सफल करना चाहिए।

यह हमारे छपाये हुए ग्रंथोंका सूचीपत्र है, इनके सिवाय दूसरे लोगोंके छपाये हुए दि० जैनधर्म संबंधी संस्कृत, हिन्दी, इंग्रेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र (विवरण सहित) मंगाकर देखिये।

पुस्तकें मिलनेका पताः—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर,

हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।